संस्थापक संपादक
योग योगेश्वर अनन्तश्री
चन्द्र मोहनजी महाराज

सिद्धयोग

जून १९९०

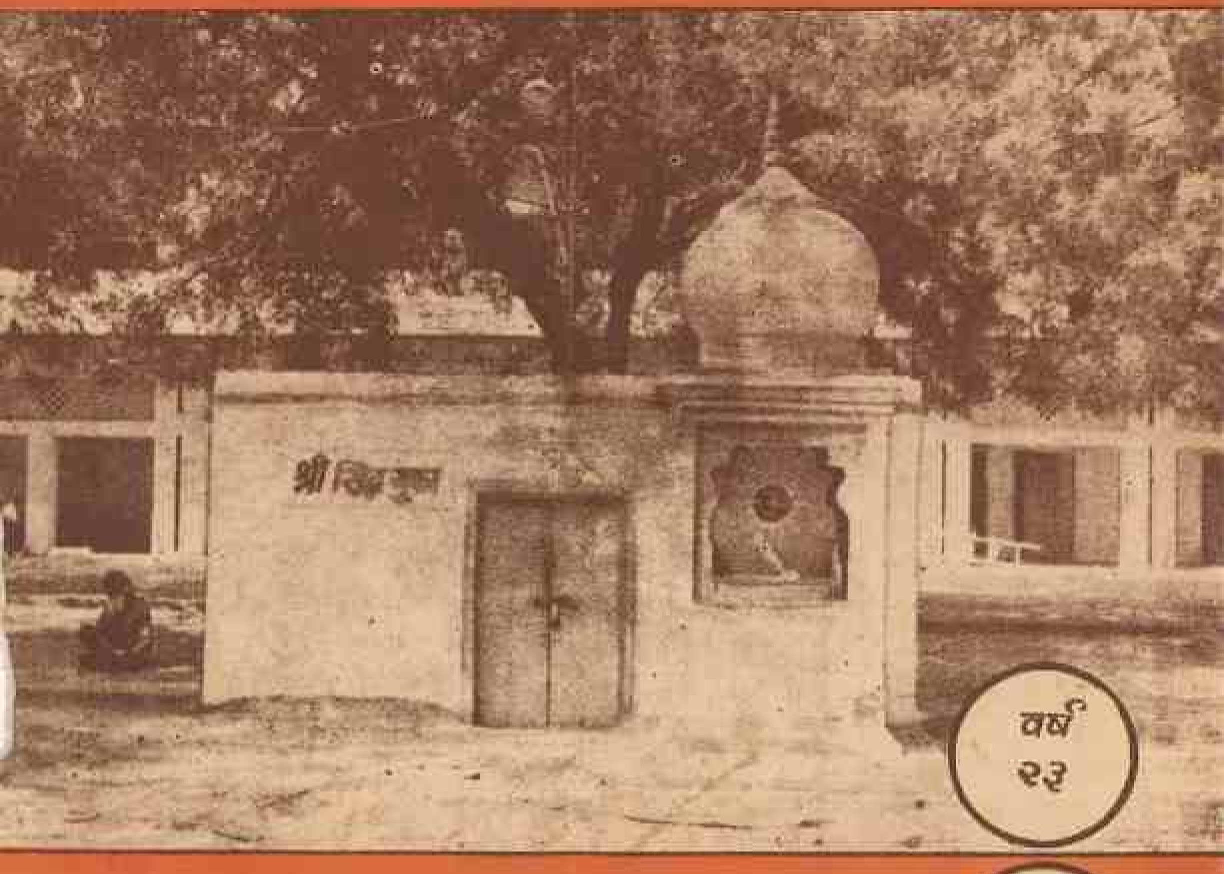

वर्ष २३

अंक ३

श्री सिद्धगुफा प्रकाशन
सँवाई, आगरा

प्रकाशक
श्री सिद्धगुफा
सबाई
आगरा

संयुक्त सम्पादक
'दिव्य'

जून
१९९०

इस अंक में पढ़िये—

★ श्रेयश्च प्रेयश्च (प्रार्थना) १

★ योग-साधन में तप का महत्त्व २
—योग-योगेश्वर अनन्त श्री नन्दमोहनजी महाराज

★ वैराग्य ५
—श्री विष्णुप्रसाद व्यास

★ शिष्य और उसका धर्म ९
—श्री जगदीश मिश्र

★ अष्टांग-योग का स्वरूप—आसन-प्राणायाम १२
—डॉ० विजयसिंह

★ अशान्तस्य कुतः सुखम् १६

★ प्रारब्ध, संचित एवं क्रियमाण कर्म १७
—आचार्य डॉ० केशवराम शर्मा

★ गीता तथा पातंजल योग-सूत्र में—एकात्मकता २१
—श्री द्वारिका प्रसाद शर्मा

★ जीवन और मृत्यु (कविता) २५
—श्री दिव्यजी

★ पुनर्जन्म का सिद्धान्त २६
—श्री सुरेन्द्र बहादुरसिंह एम० ए०

★ परब्रह्म : तेजःपुंज ३०
—डॉ० अनिरुद्ध प्रधान

★ श्री रामलालजी महाराज की
दिव्य जीवन-गाथा (कविता) ३३
—श्री श्यामलाल खन्ना

★ शक्तिपात एवं कुण्डलिनी जागरण ३७
—ब्र० श्री सूरजप्रकाश

★ अज्ञान नाशक—गुरुज्ञान ४०
—श्री कमरुद्दीन

★ पापों के नाश का उपाय ४२
—वैद्य रामधन शर्मा शास्त्री

★ गांधीजी की सत्य-निष्ठा ४४
—आचार्य श्री विनोबा

वार्षिक मूल्य ४० रुपया । इस अंक का ५ रुपया।

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाँई (एत्मादपुर) आगरा।

वर्ष २२ अङ्क २ — जून १९९०

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्,
मर्त्यो मृत्योर्मुख विवरतो, मुक्ति माप्नोति सद्यः।
तत्राप्यर्थान् बहुविशदं योगशास्त्रोपदेशान्,
कल्याणाना भवतु महता सिद्धये 'सिद्धयोग:' ॥

-: श्रेयश्च प्रेयश्च :-

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते ॥

(उपनिषद्)

अर्थात्

श्रेय और प्रेय—ये दोनों ही मनुष्य के सामने आते हैं। बुद्धिमान् मनुष्य इन दोनों के स्वरूप पर भलीभाँति विचार करके उनको पृथक्-पृथक् समझ लेता है और वह श्रेष्ठ बुद्धि मनुष्य परम कल्याण के साधन को ही भोग साधन की अपेक्षा श्रेष्ठ समझकर ग्रहण करता है, परन्तु मन्द बुद्धिवाला मनुष्य योगक्षेम की इच्छा से भोगों के साधन रूप प्रेय को अपनाता है।

अधिकांश मनुष्य तो पुनर्जन्म में विश्वास न होने के कारण इस विषय में विचार ही नहीं करते, वे भोगों में आसक्त होकर अपने देव दुर्लभ मनुष्य-जीवन को पशुवत् भोगों के भोगने में ही समाप्त कर देते हैं। किन्तु जिनका पुनर्जन्म में और परलोक में विश्वास है, उन विचारशील मनुष्यों के सामने जब ये श्रेय और प्रेय दोनों आते हैं, तब वे इन दोनों के गुण-दोषों पर विचार करके दोनोंको पृथक्-पृथक् समझने की चेष्टा करते हैं। इनमें जो श्रेष्ठ बुद्धि सम्पन्न होता है, वह तो दोनों के तत्व को पूर्णतया समझकर नीर-क्षीर-विवेकी हंस की तरह प्रेय की उपेक्षा करके श्रेय को ही ग्रहण करता है। परन्तु जो मनुष्य अल्पबुद्धि है, जिसकी बुद्धि में विवेक-शक्ति का अभाव है, वह श्रेय के फल में अविश्वास करके प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले लौकिक योगक्षेम की सिद्धि के लिए प्रेय को अपनाता है; वह इतना ही समझता है कि जो कुछ भोग-पदार्थ प्राप्त हैं, वे सुरक्षित बने रहें और जो अप्राप्त हैं, वे प्रचुर मात्रा में मिल जायं। यही योगक्षेम है।

विशेष लेख :-

योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

योग-साधना में तप का महत्व

योग-साधना में तप का विशेष महत्व है, इसीलिए भगवान् पतंजलिदेव ने तप को योग-सिद्धि का आधार बताते हुए, अनिवार्य रूप से उसे अपनाने पर बल दिया है। योग-दर्शन साधन पाद के प्रारम्भ में क्रियायोग की परिभाषा करते हुए सूत्र संख्या १ में वे कहते हैं—

तप: स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि क्रियायोग: ।

यानी क्रियायोग का जो अवलम्बन समाधि सिद्धि की उपलब्धि में सहायक बनता है, उसमें तप स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान जैसी सद्वृत्तियों को अपने आचरण और व्यवहार में उजागर कर लेना अति आवश्यक रहता है। सूत्र में तप को प्रथम स्थान पर रखना—स्वयं ही उसकी विशिष्टता का परिचय दे रहा है। बिना तप के न स्वाध्याय की साधना सध सकती है और न ईश्वर-प्रणिधान की क्रिया में स्थैर्य लाया जा सकता है। तप:पूत साधक बने बिना क्रियायोग का अनुष्ठान हो ही नहीं सकता, इसी से तो 'क्रियायोग' सम्बन्धी सूत्र में तप: को प्रथम स्थान पर प्रतिष्ठित किया गया है।

तप क्या है ? इसकी व्याख्या भगवान व्यासदेव के शब्दों में—"द्वन्द्व सहनं तप:" अर्थात् किसी भी कार्य की सिद्धि में सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय आदि द्वन्द्वों के आघातों को सहन करते हुए तन्मयता से निरन्तर उपायमें लगे रहना ही तप कहलाता है। इन्द्रिय-निग्रह और मन की चंचलता को नष्ट करने का अभ्यास करना भी तप कहलाता है। यह तप ही मनुष्य जीवन की सफलता का मूल होता है, इसीलिए तप को ही धर्म की धुरी कहा गया है। तप की महत्ता का विशदता से वर्णन महाभारत में भी आया है।

शान्तिपर्व में महात्मा भीष्म ने युधिष्ठिर को सम्बोधित करते हुए जो उपदेश दिया है, वह तप की श्रेष्ठता का परिचायक है। यथा—

सर्वमेतत् तपोमूलं कवय: परिचक्षते ।
न ह्यतप्ततथा मूढ़: क्रियाफलमवाप्नुते ॥

भीष्मजी ने कहा—राजन् ! इस सम्पूर्ण जगत् का मूल कारण तप ही है, ऐसा विद्वान पुरुष कहते हैं। जिस मूढ़ ने तपस्या नहीं की है उसे अपने शुभ कर्मोंका फल नहीं मिलता है।

योगदर्शन में ही नहीं, किन्तु वेदों, उपनिषदों और महाभारत जैसे विशाल-काय ग्रन्थ में भी तप का क्या महत्व है इसे विशेष रूप से समझाने का प्रयास किया है पूज्यपाद श्री गुरुदेवजी ने अपने इस लेख में।

—सं० सम्पादक

प्रजापतिरिदं सर्वं,
तपसैवासृजत् प्रभुः।
तथैव वेदानृषय-
स्तपसा प्रतिपेदिरे ॥

भगवान प्रजापति ने तपसे ही इस समस्त संसार की सृष्टि की है तथा ऋषियों ने तप से ही वेदों का ज्ञान प्राप्त किया है।

तपसैव ससर्जान्नं,
फलमूलानि यानि च।
त्रींल्लोकांस्तपसा सिद्धाः,
पश्यन्ति सुसमाहिताः ॥

जो-जो फल, मूल और अन्न हैं, उनको विधाताने तपसे ही उत्पन्न किया है। तपस्या से सिद्ध हुए एकाग्र चित्त महात्मा पुरुष तीनों लोकों को प्रत्यक्ष देखते हैं।

औषधान्यगदादीनि,
क्रियाश्च विविधास्तथा।
तपसैव हि सिद्धयन्ति,
तपोमूलं हि साधनम् ॥

औषध, आरोग्य आदि की प्राप्ति तथा नाना प्रकार की क्रियाएं तपस्या से ही सिद्ध होती हैं; क्योंकि प्रत्येक साधन की जड़ तपस्या ही है।

यद् दुरापं भवेत् किंचित्,
तत् सर्वं तपसो भवेत्।
ऐश्वर्यमृषयः प्राप्ता,
स्तपसैव न संशयः ॥

संसारमें जो कुछ भी दुर्लभ वस्तु हो, वह सब तपस्या से सुलभ हो सकती है। ऋषियों ने तपस्या से ही अणिमा आदि अष्टविध ऐश्वर्यको प्राप्त किया है, इसमें संशय नहीं है।

सुरापोऽसम्मतादायी,
भ्रूणहा गुरुतल्पगः।
तपसैव सुतप्तेन नरः,
पापात् प्रमुच्यते ॥

शराबी, किसी सम्मति के बिना ही उसकी वस्तु उठा लेने वाला (चोर), गर्भ-हत्यारा और गुरुपत्नीगामी मनुष्य भी अच्छी तरह की हुई तपस्या द्वारा ही पाप से छुटकारा पाता है।

तपसो बहुरूपस्य,
तैस्तैर्द्वारैः प्रवर्ततः।
निवृत्तस्य वर्तमानस्य तपो,
नानशनात् परम् ॥

तपस्या के अनेक रूप हैं और भिन्न-भिन्न साधनों एवं उपायों द्वारा मनुष्य उसमें प्रवृत्त होता है; परन्तु जो निवृत्ति-मार्ग से चल रहा है, उसके लिए उपवास से बढ़कर दूसरा कोई तप नहीं है।

अहिंसा सत्यवचनं,
दानमिन्द्रिय निग्रहः।
एतेभ्यो हि महाराज,
तपो नानशनात् परम् ॥

महाराज! अहिंसा, सत्य भाषण, दान और इन्द्रिय-संयम—इन सबसे बढ़कर तप है और उपवास से बड़ी कोई तपस्या नहीं है।

इन्द्रियाणीह रक्षन्ति,
स्वर्गधर्माभिगुप्तये।
तस्मादर्थे च धर्मे च,
तपो नानशनात् परम् ॥

इस संसार में धार्मिक पुरुष स्वर्ग के साधनभूत धर्म की रक्षा के लिए इन्द्रियों को

सुरक्षित (संयमशील बनाये) रखते हैं, परन्तु धर्म और अर्थ दोनों की सिद्धि के लिए तप ही श्रेष्ठ साधन है और उपवास से बढ़कर कोई तपस्या नहीं है।

ऋषयः पितरो देवा,
मनुष्या मृगपक्षिणः।
यानि चान्यानि भूतानि,
स्थावराणि चराणि च॥
तपःपरायणाः सर्वे,
सिद्ध्यन्ति तपसा च ते।
इत्येवं तपसा देवा,
महत्त्वं प्रतिपेदिरे॥

ऋषि, पितर, देवता, मनुष्य, पशु-पक्षी तथा दूसरे जो चराचर प्राणी हैं, वे सब तपस्या में ही तत्पर रहते हैं। इसी प्रकार देवताओं ने भी तपस्या से ही महत्वपूर्ण पद प्राप्त किया है।

इमानीष्टविभागानि,
फलानि तपसः सदा।
तपसा शक्यते प्राप्तुं,
देवत्वमपि निश्चयात्॥

ये जो भिन्न-भिन्न अभीष्ट फल कहे गये हैं, वे सब सदा तपस्या से ही सुलभ होते हैं। तपस्या से निश्चय ही देवत्व भी प्राप्त किया जा सकता है।

श्रुति में भी कहा गया है कि परम प्रभु ने सृष्टि-रचना में तप को आधार बनाया था। "ऋतं च सत्यं चा भीद्धात्तपसो अध्यजायत" अर्थात् गतिशील, चेतन जगत और स्थिर रहने वाला अचेतन जगत तप से ही उत्पन्न हुआ है, ऐसा कथन है भगवती श्रुति का। तप की साधना सध जाने पर ज्ञान-राशि का प्रवेश मानव के मस्तिष्क में स्वतः ही तीव्र गति से होने लगता है। देवताओं ने असुरों पर जब-जब भी विजय पाई है, तब-तब तपस्यारत रहकर ही पाई है, ऐसी महिमा है तप की। महर्षि पतंजलि ने इसीलिए अपने क्रियायोग सम्बन्धी सूत्र में तप को प्रथम स्थान पर रखकर उसकी विशिष्टता को प्रकट किया है। अतः सभी योग-साधकों को तप को आधार बनाकर अपनी साधना को सफलीभूत बनाने का प्रयत्न करना चाहिए।

योग-साधना में साधक तप के महत्व की उपेक्षा न करें, इसीलिए योग-दर्शनके प्रणेता ऋषिने इसमें नियमों को सम्मिलित कर दिया है। साधन पाद के सूत्र संख्या में पतंजलि भगवान लिखते हैं—

शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।

यम और नियमों के पालन किये बिना योग-पथमें आगे बढ़ा ही नहीं जा सकता है। तपसे जब अशुद्धि का क्षय होता है तब शरीर और इन्द्रियां सिद्धि की प्राप्ति में सहायक होती है। यथा—

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः।

—योग-दर्शन २/४३

तप सिद्धि प्राप्ति आवश्यक रूप से सहायक बनता है। कैवल्य पाद के सूत्र संख्या १ में यह भी स्पष्टता से बताया गया है—

जन्मौषधिमन्त्रतपः समाधिजाः सिद्धयः।

आशय स्पष्ट है कि जिन पांच प्रकारों से यौगिक सिद्धियां प्राप्त होती हैं, उनमें तप भी मुख्य प्रकार है। अतः साधकोंको तपोमय जीवनचर्या बनाने का सदैव ध्यान रखना ही चाहिए।

वैराग्य

● श्री विष्णुप्रसाद व्यास

एक वस्तु के जिस प्रकार अस्तित्व (होना) और अनस्तित्व (न होना) दो पक्ष हैं, उसी प्रकार राग-द्वेष-वैराग्य की दो विभिन्न स्थितियाँ हैं—एक अस्तित्व और दूसरा अनअस्तित्व। जो व्यक्ति कहता है कि कि असत्य न बोलो, वह सत्य के अस्तित्व का भी मानने वाला है। जो कहता है कि सत्य बोलो, वह अन्य शब्दों में असत्य के अस्तित्व का समाचार दे रहा है जिसमें सत्य और असत्य दोनोंका अस्तित्व अथवा दोनोंका अनअस्तित्व है, उसको सच्चा वैराग्य कहते हैं।

जब पहले-पहले वस्तुओं का अनुभव होता है तो वासनाओं की अपनी दशा के कारण मनुष्य कुछ को सुखदायी और कुछ को दुःखदायी पाता है। वह सुखानुभव की ओर प्रवृत्त होता है और दुःखानुभव से घृणा करता है। घृणा इस बात की ओर संकेत करती है कि किसी से लगाव भी है और लगाव घृणा के विद्यमान होने का समाचार देता है। इसलिए ये दोनों—अस्तित्व और अनअस्तित्व अनुभव की अवस्थायें हैं। जब इन दोनों की ओर से विचार हट जाये तो वैराग्य कहलाता है और इस वैराग्य को उत्तम श्रेणी का वैराग्य कहते हैं।

हजरत फरीदुद्दीन अत्तार जब इत्र की दुकान करते थे, उस समय एक फकीर उनकी दुकान के सामने आकर खड़ा हुआ और कई घण्टे तक खड़ा रहा, परन्तु अत्तार साहिब ने उनकी ओर तनिक भी ध्यान न दिया और अपनी दुकान के काम में ही व्यस्त रहे। तब फकीर ने उनसे कहा कि मियां! तुम दुकानदारी में ऐसे व्यस्त हो कि मौत का विचार तक नहीं। बताओ तुम्हारे प्राण कैसे निकलेंगे? उस समय उन्होंने झुंझला कर उत्तर दिया कि मेरे प्राणों के विषय में पूछते हो, भला तुम्हीं बताओ कि तुम्हारे प्राण कैसे निकलेंगे? फकीर यह सुनकर दुकान के सामने ही लेट गया और निष्प्राण हो गया। यह देखकर अत्तार साहिब बड़े विस्मित हुए और ऐसा वैराग्य उत्पन्न हुआ कि उसी समय सम्पूर्ण सम्बन्धों से अपनत्व-विच्छेद करके फकीरी ग्रहण करली। यह सब फकीरों की आचरणमय कमाई का प्रभाव है।

वैराग्य कैसे उत्पन्न होता है? मिथ्या और अत्यन्त शोक अर्थात् दुःख से भी वैराग्य उत्पन्न होता है परन्तु वास्तविक वैराग्य वैराग्यवान् की संगति से उत्पन्न होता है और सत्पुरुषों की निरन्तर संगति करने से दिन-प्रतिदिन दृढ़ होता है।

वैराग्यवान् सत्पुरुषों की संगति से विवेक उत्पन्न होता है अर्थात् मनुष्य को जब सत्-असत् का ज्ञान हो जाता है तो फिर स्वयमेव ही असत् से घृणा उत्पन्न होती है। सत्संग करने, महापुरुषों के प्रवचन सुनने, उनके दर्शन करने, उनके जीवन-चरित्र पढ़ने तथा

पवित्र पुस्तकों के अध्ययन से असत् से घृणा और सत् से लगाव प्रतिदिन बढ़ता जाता है।

उदाहरणार्थ महाराजा गोपीचन्द को उसकी माता ने (जो कि सत्पुरुषों की शिष्या थी) बार-बार भली प्रकार समझा कर उपदेश दिया, तब उनको वैराग्य हुआ। ऋषभदेव जी महाराज के सौ पुत्र हुए। उस समय उन्होंने विचार किया कि संसार के सम्पूर्ण सुखों का उपभोग कर लिया, अब राज-काज छोड़कर भजन करना चाहिए। उनके नौ लड़के भी राज्य त्यागकर वैराग्यवान् हो गये जो कि बाद में नव-सिद्धों के नाम से प्रसिद्ध हुए, जिनके सत्संग की कथा सुनकर राजा जनक को वैराग्य हुआ।

दत्तात्रेयजी ने चौबीस गुरु किये और उनकी बातों से शिक्षा ग्रहण की। कुछ लोगों को पूर्व के संस्कारों के कारण एकाएक एक शब्द सुनने अथवा कोई विशेष बात को देखने से ही तुरन्त ऐसा वैराग्य उत्पन्न हो जाता है जैसे कोई बारूद में आग लगा दे। जैसे ध्रुवजी महाराज को अपनी विमाता की यह बात सुनकर ही कि "यदि तुमको राजा की गोद में बैठना था तो मेरी कोख से जन्म लेता" ऐसा वैराग्य हुआ कि बचपन में ही सब कुछ छोड़कर चले गये।

वाल्मीकि जी को अपने सम्बन्धियों की उपेक्षा देखकर और स्पष्ट उत्तर सुनकर वैराग्य हुआ। गोस्वामी तुलसीदासजी को अपनी स्त्री की यह बात सुनकर कि "जितना प्रेम तुम मुझसे करते हो, यदि परमेश्वर से करो तो तुम्हारा कल्याण हो जावे" वैराग्य हुआ।

एक मनुष्य एक मेले में गया और वहां की साज-सज्जा, राग-रंग, नाच तमाशा देखा।

दूसरे दिन प्रातः जब मेला समाप्त हो गया तो सब दुकानें उठ गईं तो उस स्थान की बिगड़ी हुई दशा और सूनेपन को देखकर ऐसी शिक्षा ग्रहण की कि यह संसार भी इसी प्रकार से है और वहीं से साधु हो गया, घर वापस भी न आया।

कुछ लोग पूर्व के संस्कारों के कारण माता के गर्भ से ही वैराग्यवान उत्पन्न होते हैं। उदाहरणार्थ प्रह्लादजी की माता को दत्तात्रेयजी ने गर्भ की अवस्था में कथा सुनाई और प्रह्लादजी गर्भ में ही कथा सुनकर वैराग्य को प्राप्त हुए।

शुकदेवजी महाराज को जन्म लेते ही वैराग्य था। जड़ भरत ने भी जब ब्राह्मण के यहाँ जन्म लिया तो उनको पूर्व जन्म का हाल मालूम था कि हमने सब त्याग कर दिया था, परन्तु हिरण के बच्चे से प्यार करने पर उसके मोह में प्राण छूटे तो हिरण का जन्म लेना पड़ा था। इसलिए अब किसी से सम्बन्ध और संग नहीं रखना।

दूसरी अवस्था में अत्यन्त शोक अर्थात् दुःख के कारण भी वैराग्य हो जाता है। जैसे सम्बन्धियों की उपेक्षा, मित्रों की शत्रुता, किसी प्रिय सम्बन्धी अथवा मित्र का एकाएक शरीर त्याग जाना। आग लगने अथवा भूकम्प आदि के कारण धन-सम्पत्ति का नष्ट हो जाना आदि बहुत-सी घटनायें होती हैं जिनसे वैराग्य उत्पन्न होता है। यह आवश्यक नहीं कि सबको एक ही प्रकार से वैराग्य हो, अपितु उपर्युक्त घटनाओं में से किसी एक के कारण अथवा किसी और घटना के कारण संसार से वैराग्य उत्पन्न हो सकता है, किन्तु सच्चा वैराग्य वास्तव में वह है जो सत्पुरुषों और वैराग्यवान् पुरुषों की संगति करने से उत्पन्न होता है।

एक विरक्त महात्मा संसार से उपराम, भक्ति में रत किसी वन में रहते थे कि वहाँ राजाका जाना हुआ। राजाने उनकी बाह्यावस्था देखकर कहा कि आप नगरमें चलिये। वहाँ आपकी उचित प्रकारसे सेवा होगी और आपको सब प्रकार का आराम मिलेगा। उन्होंने कहा कि संसार और संसार के सर्व सुख अति तुच्छ और मिथ्या हैं। राजा ने कहा कि आपने उसका सुख भोगा नहीं, इसलिए आप ऐसा कहते हैं वरना संसारी सुखों के समान तो कोई सुख है ही नहीं। महात्मा जी तो यह सुनकर चुप हो गये और राजा नगर को वापस आ गया।

कुछ दिन के पश्चात् राजा के पेट में दर्द हुआ और पेट फूल गया, वायु रुक गई और अत्यन्त कष्ट हुआ। हर प्रकार का उपचार किया गया, परन्तु आराम न हुआ और दशा मरण प्रायः हो गई। उस समय वही महात्मा राजा के पास आये; राजा ने उनको देखकर अत्यन्त दीनता और दुःख पूर्ण दृष्टिसे प्रणाम किया और विनय की कि उपचार कीजिये, जिससे प्राण बचें।

महात्माने कहा कि यदि सम्पूर्ण राज्य को मुझको दान-पत्र लिख दो तो मैं तुम्हारा उपचार करूँ। राजाने सोचा कि यदि मर गया तो भी राज्य मेरे हाथ से जायगा ही, इसलिए प्राण बचें तो अच्छा है और उसी समय सम्पूर्ण राज्य महात्माजी के नाम लिख दिया। महात्माजी ने राजा के पेट पर हाथ फेरा, उसी समय वायु निकल गई और राजा को आराम होगया। महात्माजी ने कहा कि अब राज्य पर तो तेरा अधिकार रहा नहीं, वह तो मेरा हो गया, किन्तु मैं इस तुच्छ राज्य को, जिसका मूल्य एक पाद के बराबर है, लेकर क्या करूँगा? इस पर अज्ञानी लोग ही अभिमान करते हैं। मेरे पास वह सच्चा सुख और आत्मिक धन है जो कभी नष्ट नहीं होता। इस प्रकार संसारियों और भक्तों के सुख में जो अन्तर है उसे समझाकर कहा कि अब बताओ कि इन संसारी सुखों का भक्ति के सुख की तुलनामें क्या मूल्य है? इतना कह कर महात्माजी अपने स्थान पर लौट गये।

एक राजा ऐसा भक्त था कि हृदय में ही हर समय परमेश्वर का सुमिरण किया करता था और बाहरसे वृत्ति ऐसी थी कि सब लोग उसको एक आम संसारी समझते थे। उसकी रानी भी अत्यन्त भक्तिभाव वाली थी, परन्तु राजा की आन्तरिक स्थिति के विषय में वह भी अनभिज्ञ थी। वह दिन-रात इसी चिन्ता में रहती थी कि राजाको किसी प्रकार भगवद् प्रेम हो जाय। एक रात निद्रावस्था में राजा के मुख से भगवद् नाम निकल गया। रानी ने उस दिन नौबत-नगाड़े बजवाये और अत्यन्त आनन्द मनाया।

जब राजा ने इस उत्साह का कारण पूछा तो रानी ने कहा कि रात को आपके मुख से भगवद् नाम निकला था, इससे हमको बड़ी प्रसन्नता हुई और उसी प्रसन्नतामें यह उत्सव किया है। राजा ने कहा कि प्राणों का मूल भगवद-नाम जो शरीर में था, जब वह ही निकल गया तो यह हाड़-मांसका शरीर किस काम का? यह कहकर तुरन्त शरीर त्याग दिया।

जिनको सच्चा प्रेम होता है वे फरियाद नहीं करते, अपितु पूर्णतः मौन रहते हैं और मन ही मन स्मरण करते हैं।

ये हैं सच्चे भक्तों के लक्षण, वे दिखावे की भक्ति नहीं करते, अपितु शुद्ध हृदय से भक्ति में लीन रहते हैं।

समान भाव से बरतने का अर्थ प्रायः लोग

यह करते हैं कि सबसे समानता का व्यवहार करना चाहिए। यदि इसको सही समझा जाय और इसको आचरण में लाया जाय तो चींटी को जितना भोजन दिया जाता है, उतना ही भोजन हाथी को मिलना चाहिए, परन्तु क्या ऐसा करने से प्रबन्ध चल सकेगा और हाथी का जीवन रह सकेगा ? वास्तव में परमार्थ और व्यवहार दोनों भिन्न-भिन्न हैं, इनको एक संग सिखाने से काम नहीं बन सकता। परमार्थ में एक समान बर्तने से यह भाव है कि सबको मालिक का रूप और उन्हें पांच तत्व का पुतला समझकर परायेपन की दृष्टि और दुई को उठा देना चाहिए और यह समझना चाहिए कि ऊंचा-नीचा, छोटा-बड़ा, मोटा-पतला, मनुष्य-पशु सबमें वही परमेश्वर विद्यमान है, फिर किससे घृणा की जाय और किससे शत्रुता की जाय ? व्यवहार में समान भाव से बर्तने के अर्थ हैं कि जो व्यक्ति जैसा हो, उससे वैसा ही वर्ताव किया जावे।

राम झरोखे बैठ के, सबका मुजरा लेत।
जैसी जाकी चाकरी, वैसे वाको देत॥

यदि संत महात्मा किसी धनी और सम्माननीय व्यक्ति के साथ प्रेम और विशेषता का वर्ताव करें तो प्रायः लोग उनको ताने देते हैं कि यह देखो ! संतों के पास भी धनी लोगों की ही अधिक आवभगत होती है, किन्तु ऐसा क्यों न हो ? जब परमेश्वर ने उनको मान-सम्मान प्रदान किया है तो जो परमेश्वर के मानने वाले हैं, व्यवहार की दृष्टि से वे क्यों न उनका वैसा ही सम्मान करें ? किन्तु परमार्थ में संतों का वर्ताव सबके साथ एकसा होता है। यदि व्यवहार में भी सबके साथ समानता का वर्ताव किया जाय तो प्रबन्ध अस्त-व्यस्त हो जायगा।

उदाहरण है कि किसी फकीर ने मालिक के चरणोंमें प्रार्थना की कि ऐ मालिक! सबको मान-सम्मान, प्रतिष्ठा, धन-सम्पत्ति आदि में समान करदे, तो आवाज आई कि तुम अपना काम करो, यह हमारा काम है, इसमें क्यों हस्तक्षेप करते हो ? इस बात को हम ही खूब समझते हैं।

किन्तु नर्म-दिल फकीर ने न माना तो आज्ञा हुई कि अच्छा ! ऐसा ही हो जायगा, परन्तु इसका प्रबन्ध अब तुम्हें करना होगा।

आज्ञा होते ही धनी-दीन सब समान हो गये। सबके घरोंमें धन-सम्पत्ति, सुख-सुविधा के सामान आदि सब बराबर; न कोई किसी का मालिक और न कोई किसी का नौकर, न कोई किसी के अधीन। अब न मेहतर सफाई करते हैं, न भिश्ती पानी देते हैं। पूरे देश में अराजकता फैल गई, फकीर साहब भी तंग आ गये। स्वयं उनके परिवार का प्रबन्ध भी अस्त-व्यस्त हो गया। तब प्रार्थना की कि मालिक ! यह प्रबन्ध मुझसे नहीं हो सकता, आपका देश और आपका ही प्रबन्ध हो और जो कुछ भी आप उचित और सही समझें, वैसा करें।

जब नादिरशाह दिल्ली में था तो भारत के सम्राट की ओर से उसकी दावत हुई। सैकड़ों प्रकार के स्वादिष्ट व्यंजन—पूरी, कचौरी, हलुवा, मांस, पुलाव, जर्दा, कोरमा, अचार आदि क्या कुछ न था, सभी कुछ उपलब्ध किया गया अर्थात् भोजन बनवाने में अत्यन्त शिष्टाचार बरता गया। जब भोजन सब सिपाहियों, सरदारों और अधिकारियों के सम्मुख रख दिया तो नादिरशाह ने उठ कर एक दृष्टि सब वस्तुओं पर डाली और यह शिष्टाचार देखकर उसकी आंखें खुल गईं। उसने कुछ भिश्तियों को बुलवाकर पूरे

(● शेष पृष्ठ टाइटिल ३ पर पढ़ें)

शिष्य और उसका धर्म

● श्री जगदीश मिश्र

योग-मार्ग की साधना में प्रवेश लेने के लिए जिस प्रकार सर्व समर्थ पूर्णसिद्ध सद्गुरु देवजी की नितान्त आवश्यकता रहती है, उसी प्रकार उस मार्ग में चलने के लिए एक उत्साही सद्गुणों से ओत-प्रोत, दृढ़ निश्चयी शिष्य की भी आवश्यकता होती है। जिस प्रकार सद्गुरु के बिना योगविद्या में प्रवेश हो ही नहीं सकता, उसी प्रकार शिष्य की योग्यता और सद्गुणों के अभाव में शिष्य भी सफलतापूर्वक आध्यात्मिक मार्ग में एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकता।

आज हम सबको एक ऐसे सद्गुरु की चरण-शरण और आश्रय मिला हुआ है जो आध्यात्मिक जगत में सूर्य की भांति विश्व को प्रकाश दे रहा है। वे आश्रयदाता सब प्रकार से समर्थ, पूर्ण सिद्ध और अनूठे हैं, जिनकी मिसाल 'न भूतो न भविष्यति' भारत में ही नहीं विश्व में मिलना कठिन है। इसके लिए हम सबको उन्हीं सर्वसमर्थ की अहेतुकी कृपा के लिए पूर्ण हृदय से आभारी होना चाहिए, क्योंकि बिना उनकी कृपा उनकी शरण और आश्रय प्राप्तकर लेना भी असम्भव रहता है। ऐसा होना हम लोगों का पुण्य या भाग्य नहीं, अपितु इसमें उन ी कृपा ही इसका हेतु है।

आज के विश्व का वातावरण सभी प्रकार से इतना दूषित और कलुषित है कि साधारण मन्दभागी शिष्य तो साधन-मार्गमें एक पगभी सफलतापूर्वक नहीं रख सकता। वरन् उच्च-कोटि के पुण्यभागी शिष्यों को भी इस दूषित वातावरण के थपेड़े विचलित करते दिखाई पड़ जाते हैं और उनको भी हतोत्साहित करके ये पीछे धकेल देते हैं। ऐसे समय में हम सबको अपने आश्रयदाता कृपानिधान की अहेतुकी कृपा की ओर निहारने और संरक्षण प्राप्त करने के लिए गुहार करने के अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग दिखाई नहीं देता। हमें अटूट विश्वास होना चाहिए कि उनकी कृपा से "ब्रह्माण्ड गोष्पदायते" हो जाता है। उन्होंने ग्रहण कर लिया है, हमें स्वीकार कर लिया है तो और क्या चाहिए ? निस्सन्देह हम सबका कुल धन्य है, जन्म धन्य है, देश धन्य है कि उनके चरणों की धूलि हमको मिली है। गम्भीरता के साथ शिशुवत सरलता के साथ व्यवहार करो। सिंह की शूरता और पुष्प की कोमलता के साथ अपने मार्ग पर बढ़ते चलो। मार्ग सरल से सरलतम बनता चला जायेगा। सब शास्त्रों का कथन है कि संसार में जो त्रिविध दुःख हैं वे नैसर्गिक नहीं हैं। वे आज हैं कल नहीं रहेंगे, चिन्ता की कोई बात नहीं।

आओ अब अपनी ओर भी देख लें कि गुरु समर्थ हो और शिष्य जागरूक न हो तो बात नहीं बनेगी। साधना के मार्ग में तीव्र गति से बढ़ने के लिए जागरूकता अत्यन्त आवश्यक है गुरु-कृपा भी चारों ओर बिखरी पड़ीहै। हम में जागरूकता और ग्राह्यता का अभाव होने के कारण हम उससे वंचित रह जाते हैं। आज के समय में एक योग्य और

अधिकारी शिष्य का मिलना बहुत कठिन है। मुख से तो हर व्यक्ति अपने को शिष्य उद्घोषित तो कर देता है, किन्तु वास्तव में वह शिष्यत्व के गुणोंसे बहुत दूर रहता है। शिष्य बनने के लिए व्यक्ति को आवश्यकता पड़ने पर गुणों की बाजी भी लगानी पड़ती है। जो व्यक्ति अपने गुरुदेव को तन, मन, धन से यहाँ तक कि अपनी परमप्रिय वस्तु भी सहर्ष न्योछावर करने के लिए हर समय उद्यत रहता हो, वही शिष्य कहलाने का अधिकारी है। अधिकारी शिष्य ही उत्तम वस्तु को सुरक्षित रख सकता है। आध्यात्मिक जगत में गुरु-शिष्य सम्बन्ध स्थापित हो जाने के बाद शिष्य को गुरु द्वारा निर्धारित परीक्षाओं में से होकर गुजरना अवश्यम्भावी है। भले ही ये परीक्षायें गुरुदेव द्वारा परोक्ष रूप से ली जाएँ अथवा अपरोक्ष रूपसे। जब तक परीक्षा में शिष्य उत्तीर्ण नहीं हो जाता, वह अधिकारी शिष्य नहीं बन सकता और तब तक गुरुदेव भी आध्यात्मिक जगतके भेद की बातें शिष्य को नहीं बतलाते। परीक्षा के लिए शिष्य को सहर्ष तैयार रहना चाहिए। उस कार्य में सतर्कता की अत्यन्त आवश्यकता है। प्राचीन काल में गुरुदेव द्वारा बड़ी कठोर परीक्षाएँ लेने का नियम था, किन्तु समय के साथ ही आजकल परीक्षा लेने का रूपक भी सरल कर दिया गया है।

आज का शिष्य इतना उतावला होकर श्री सद्गुरु भगवान के चरण-कमलों में शिष्य बनने के लिए आता है कि करना कुछ न पड़े और भगवान के दर्शन उसे तुरन्त हो जाएं। वह परिश्रम करना, गुरुदेव के प्रति पूर्ण श्रद्धा रखना और उनकी आज्ञा का पालन करना जानता ही नहीं। आज के शिष्यकी मान्यता यही रहती है कि उसे कुछ न करना पड़े, संसार के सारे काम भी सुचारु रूप से चलते रहें। शरीर को जरा भी कष्ट न पहुंचे, गुरुदेव के सम्मुख नम्रता, दीनता और श्रद्धा से सिर भी न झुकाना पड़े, किन्तु गुरुदेव की सारी विद्या तुरन्त ही उसे मिल जाय। ईश्वर दर्शन तुरन्त होने चाहिए, इसमें यदि विलम्ब हुआ तो सम्बन्ध ही समाप्त। आजकल के जिज्ञासु शिष्यों का यह हाल है।

अधिकारी शिष्य होने के लिए साधक को कुछ भाव अवश्य ही अपने अन्दर उत्पन्न करने पड़ेंगे, जिनके बिना उत्पन्न किये वह न तो योग्य शिष्य ही कहलायेगा और न गुरुदेव का प्यारा ही बन पायेगा। जिनके बिना वह साधन जगत में भी प्रवेश नहीं कर पायेगा।

आओ कुछ विशेष भावों के बारे में हम यहाँ विचार करें—

शिष्य में गुरुदेव के प्रति पूर्ण रूप से यह भाव होने चाहिए कि गुरुदेव ही ईश्वर हैं, ईश्वर के समान नहीं, साक्षात् परब्रह्म परमेश्वर ही है। वह सर्व शक्तिमान हमारे कल्याण के लिए ही गुरु रूप में अवतरित हुए हैं; किन्तु ये भाव शिष्य में इतनी सरलता से नहीं आ सकेंगे। इसके लिए उसे कठोर साधना क्रम से गुजरना पड़ेगा।

प्रथम अवस्था—शिष्य गुरुको मनुष्य रूप में ही देख पाता है, परन्तु यह अवश्य समझता है कि वे साधारण नहीं हैं, इनके अन्दर विशेष शक्तियाँ हैं, एक महापुरुष हैं, ईश्वरीय विद्या के जानकार हैं। उनके बताये हुए मार्ग पर चलने से हमारा कल्याण हो सकता है। ईश्वर दर्शन हो सकता है। इनकी कृपा से हमारा इहलोक और परलोक सुधर सकता है। साधना में उन्नति होने के बाद दूसरी अवस्था में शिष्य गुरु को ईश्वर के समान समझता है, किन्तु ईश्वर नहीं समझ पाता।

इस अवस्था में पहुंचने के लिए भी कई वर्ष लग जाते हैं। तीसरी अवस्था में साधना करते-करते शिष्य गुरुदेव को साक्षात ईश्वर ही समझने लगता है, उसे वैसे ही दर्शन होने लगते हैं। वास्तव में यह अवस्था प्राप्त करने के लिए कठोर साधनाकी आवश्यकता होगी। यह अवस्था उदय कर लेना अत्यन्त कठिन है। यह अवस्था आते ही शिष्य का अहं पूर्ण रूप से समाप्त हो जाता है।

साधना के लिए ऐसे विश्वास की आवश्यकता है जो आकाश से भी विशाल हो, समुद्र से भी गम्भीर हो, सुमेरु से भी भारी हो और वज्र से भी कठोर हो, परन्तु ऐसी साधना में निष्ठा होना खेल नहीं है। जब शिष्य यह समझने लगेगा कि मेरे गुरुदेव ईश्वर ही हैं, उनका शरीर ईश्वरका ही शरीर है, इनसे भिन्न और कोई भगवान या इष्ट नहीं है। जहाँ ऐसी भावना उत्पन्न हो जाय, अन्दर के मल नष्ट होके गुरु का ऐसा विस्तृत आत्म-स्वरूप जिसको दिखाई दे रहा हो वही शिष्यत्व में लेने योग्य अधिकारी समझा जाता है। चाहे सारी दुनिया गुरुदेव को किसी भी रूप से देखे पर हमारे लिए वे साक्षात भगवान ही दीखें। शिष्य की सारी वृत्तियाँ गुरु-मूर्ति पर ही केन्द्रित हो जायें। मीराजी को जैसे गिरधर लाल के सिवाय कोई पुरुष संसार में दिखाई ही नहीं देता था। उसी प्रकार यदि हमारी निगाह में भी वही एक रह जाय, कोई दूसरा नजर ही न आवे, यह शिष्यत्व का ऊंचा अधिकार है।

दर-दीवार दर्पण भये,
जित देखूं तित तोय।
कांकर पाथर ठीकरी,
भयी आरसी मोय॥

यह प्रेम की अन्तिम अवस्था है, जिसमें प्रेम पात्र के सिवाय कुछ दिखाई नहीं देता। वह कैसा ही हो, प्रेमी के लिए सबसे सुन्दर और सर्वगुण सम्पन्न होता है। जब ऐसी दृष्टि शिष्य को प्राप्त हो जाय, तभी वह अधिकारी शिष्य की श्रेणी में आ सकता है। इस अवस्था में आने पर ही शिष्य गुरु के चरणों में सर्वस्व अर्पण करने को तैयार हो जाता है। पूर्ण रूप से उन्हीं के आश्रय हो जाता है 'यही शिष्य बनना है' यही वास्तविक दीक्षा का समय है। बिना प्रेम के पूर्ण समर्पण नहीं हो सकता और समर्पणके बिना शिष्य का दीक्षा ले लेना एक खिलवाड़ है। वह आगे निभती नहीं और निभती भी है तो मुँह तक पेट तक नहीं। सोचिये, जो साधक अपने गुरु में ही ईश्वर को नहीं देख सकता वह दूसरे प्राणियोंमें उसे कैसे देखेगा ?

साधना के क्रम के साथ-साथ यदि साधक अपने जीवन में कुछ आवश्यक नियमानुवर्तिता की अवधारणा भी करले तो उसका काम शीघ्र हो सकता है।

गुरु को राजी करना, उनको प्रसन्न करना ही ध्येय होना चाहिए, कौन इन पर चलता है। इसी कारण ऐसा वातावरण देखकर वर्तमान युग के महापुरुषों ने इन नियमों को थोड़ा सरल बना दिया है। वे बाहरी अदब या बेअदबी को नहीं देखते, अपितु दिल को टटोलते हैं। शिष्य अपने गुरु में पूर्ण श्रद्धा रखे। गुरु की आज्ञा-पालन की यथा शक्ति चेष्टा करे और सम्मुख आने पर कोई दूषित विचार अन्तर में न उठने दे। यही तीन बातें मुख्य समझी जाती हैं। इन तीनों कामों की जो शिष्य कोशिश करता रहता है, गुरुजन उससे राजी रहते हैं और उस पर दया करते हैं।

कई साधकों को ऐसा देखा गया है कि वे बार-बार गुरुदेव से पूछते हैं कि आपने जो साधन बताया है उसे करते-करते बहुत दिन हो गये अब आगे को कुछ बताइये, यह बड़ी भारी गलती है। उनको जानना चाहिए कि गुरुदेव को शिष्य-साधक के अन्दर-बाहर की सब स्थिति मालूम रहती है। समय आने पर वे स्वयं ही कृपा करके साधक को आगे बढ़ा देंगे। हमें कोई अधिकार नहीं है कि उन्हें मजबूर करें।

अन्त में एक दृष्टांत देकर लेख को विराम देते हैं।

एक महात्मा अरब के किसी बाजार में चले जा रहे थे। उन्होंने देखा कि एक मनुष्य अपने गुलाम को बेच रहा है। पूछा, कितने दाम लोगे। बोला, तीन हजार दिरम (एक दिरम का मूल्य ३.२५ था महात्मा को बड़ा ही आश्चर्य हुआ। गुलाम से बोले, तुम क्या करोगे? जो मालिक करायेगा। क्या खाओगे? जो मालिक खिलायेगा। क्या पहनोगे? जो मालिक पहनायेगा। कितना सोओगे? जितना मालिक सोने का हुक्म देगा। महात्मा ने कहा, ऐसा तुमने क्यों सोचा? क्योंकि मैं गुलाम हूं और गुलाम का धर्म ही यह है कि मालिक की मर्जी पर चले। अपनी तरफ से कोई इच्छा दिल न लावे। जिस प्रकार रखे उसी में खुशीसे रहे। जो आज्ञा करे उसे यथाशक्ति पालन करे। जो सुख-दुःख उसकी ओर से पहुँचे, उसे स्वीकार करे और कभी शिकायत जुबान पर न लावे। महात्मा ने कहा कि उसकी ये बातें मेरे दिल में चुभ गईं और मैं रो दिया। मुझे अपने पर बहुत अफसोस हुआ कि मैं भक्त बनने का दावा रखता हूँ। अपने मालिक का सेवक अपने को मानता हूं, पर अभी ऐसा नहीं बन पाया। कहते हैं मुझे उस समय ऐसा मालूम हुआ कि इस विषय में यह मेरा गुरु है। क्योंकि बड़ी ऊँची शिक्षा उसने मुझे दी है। उस गुलाम को एक अमीर ने खरीदा था, वह अच्छा आदमी था। उससे कह-सुनके महात्मा ने उसे आजाद करा दिया। महात्मा को अनुभव हुआ कि गुलाम के शरीर में कोई ऊँची आत्मा है। यह भक्ति पथ है, शिष्य धर्म है। चाहे गुरु के लिए हो, चाहे भगवान के लिए हो, जब तक इतना समर्पण भाव नहीं होता, ऐसा हृदय नहीं बन जाता, तब तक सेवक-शिष्य कहना पाखण्ड ही है। भगवान उससे रीझ सकते हैं, तुम्हारे-उनके बीच में दूरी बनी रहेगी। प्रेम करने वाले अपात्र शिष्य भी पार करते रहते हैं। अगर उनमें योग्यता नहीं तो भक्ति और सेवा का भाव रखने के कारण गुरुदेव उनको ऊँचे स्थान पर पहुंचा देते हैं।

अनमोल बोल

इस संसार में असंख्य गड्ढे और खाइयाँ हैं। उनमें गिरने से बचने के लिए हमें चाहिए कि भगवान को सदा साथ रखें, तभी हमारी रक्षा हो सकती है।

× × × × ×

भगवान दूर हों तो अखण्ड प्रार्थना अशक्य हो जाती है। ध्यान-मार्गसे भगवान को अपने पास रखो। ध्यान के लिए भी अभ्यास की नितान्त आवश्यकता होती है।

(७) संत चरणदासजी की दृष्टि में—

अष्टांग-योग का स्वरूप

आसन-प्राणायाम

● डॉ० विजयसिंह

संत चरणदासजी से सम्बन्धित पूर्ववर्ती लेखों में यह बताया जा चुका है कि इनके साहित्य में वर्णित अष्टांग-योग भगवान पतंजलि के द्वारा निर्देशित अष्टांग-योग से कहीं-कहीं भिन्नता रखता है। परन्तु सूक्ष्मता से यदि देखा जाय तो यह भिन्नता से सैद्धान्तिक न होकर मात्र वैविध्य एवं विस्तृतता के कारण ही प्रतीत होती है। यम-नियमों के अन्तर्गत जहाँ योग-दर्शन के सूत्रों में पाँच-पाँच भेद दोनों के बताये गये हैं, वहीं संतजी ने स्वानुभूति एवं युगवर्ती दोषों के परिमार्जन को दृष्टिगत रखते हुए क्रमशः इनके दस-दस भेद वर्णित किये गये हैं। आसन के प्रति भगवान पतंजलि ने "स्थिर सुखमासनम्" कहकर स्थिर सुखदायी शारीरिक स्थिति को ही आसन बताया है। आसन सिद्धि हेतु प्रगाढ़ ध्यान को ही मूल कारण माना है। इसी प्रकार प्राणायाम की महत्ता को प्रदर्शित करने वाला सूत्र 'ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्' है। प्राणायाम से सत्वर सत्व शुद्ध होना बताया गया है। लोगों का मत है कि चक्र-भेदन की साधना का जिक्र भगवान पतंजलि द्वारा वर्णित योग विद्याओं में नहीं है। तन्त्र योगियों, शाक्त व शैव योगियों में चक्रवेधन का विज्ञान कौशल रहा है, जिनसे आगे चल कर बौद्धों ने भी इस साधना की परम उपयोगिता को दृष्टिगत रखते हुए अपनाया। तिब्बतीय लामाओं में भी चक्र-साधना का विज्ञान गुरु-परम्परा से रहा है। लेकिन जैसा कि हम देखते हैं योग-दर्शन का उद्देश्य सारी साधनाओं का सूत्रात्मक निर्देश करना ही है। घेरण्ड आदि संहिताओं में तथा अन्य उपनिषदों में योगासनों तथा प्राणायाम के भेद-प्रभेद पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। अतः इसी प्रकार जब हम "देशबन्धश्च धारणा" सूत्र की व्याख्या करेंगे तो देश के अन्तर्गत शरीरस्थ इन तमाम चक्रों की बताई का भी निर्देश स्वयं ही मिल जाता है। अतः संतों की साधना पद्धति गुरु परम्परागत होने के कारण योग-दर्शन से कहीं भिन्न नहीं है अपितु योग-सूत्रों को ठीक ठीक समझने में संत साहित्य अत्यन्त सहायक सिद्ध होंगे। आसन का योग-साधना में कितना बड़ा महत्व है। सन्त चरणदासजी की रचना में देखें—

योग पहिल आसन ही साधै,
आसन बिना योग पगवादै।
चरणदास निश्चय करो,
बिन आसन नहिं योग।
जो आसन दृढ़ होय तो,
योग सधै भजि रोग॥

श्री कबीरदासजी का भी कथन है—

आसन से मत डोल तोहि पिया मिलेंगे।

पिया-मिलन आत्म-परमात्म एकीकरण रूप निर्विकल्प समाधि लाभ ही है। अतः योग-साधक को यथार्थतः आसन के महत्व को जानते हुए आसन सिद्धि के लिए प्रयत्न-शील रहना चाहिए। आसन दो हैं—पहला पद्मासन और दूसरा सिद्धासन।

श्री संत चरणदासजी ने पद्मासन और सिद्धासन कैसे किया जाय? इस बात का अत्यन्त सरल वाणी में सुन्दर शब्द चित्रण किया है—

पहिले बांवा पांव उठावै,
दहिने जंघा ऊपर लावै।
दहिना पांव फेरि यों कावै,
बांवी साथल ऊपर राखै।
बांवां कर पीछे सों लावै,
बाम अँगूठा गहि तन तावै।
ऐसे हाथ दाहिना लावै,
दहिन अँगूठा पकड़ दृढावै।
ग्रीवा लटक चिबुकहि आवै,
नासा आगे दीठि लगावै।
कै हिरदै राखै चिम्बुक,
कै सम राखै देह।
कै घुटनों दोउ हाथ रखि,
कै अँगूठा गहि लेह॥

सिद्धासन—

दूजा आसन सिद्ध जु कीजै,
बांवां पांव गुदाढिग दीजै।
दाहिन पांव लिंग पर आवै,
दृष्टि सुभृकुटी पै ठहरावै।
अचरज जहाँ अधिक दरसावै,
खुले कपाट मोक्ष गति पावै।
आसन साधि व्याधि परिहरै,
भूख नींद जावै बस करै।

ऐड़ी बांवे पांव की, सींवन मध्ये राख,
लिंग गुदा के मध्य में, मूक गोलिये साख।
संयम सूं इन्द्री गहे, राखै सरल शरीर,
दृष्टि उठा भृकुटी धरै, मिटै जु दोनों पीर॥

प्राणायाम के विषय को संत चरणदास जी ने अत्यन्त विस्तार से समझाये हैं। चक्रों का भी वर्णन इसी संदर्भमें उन्होंने किया है। प्राणायाम से प्राण-अपान एकाकार होकर चक्रों का भेदन करके शक्ति और आनन्द का सृजन करता है—

हिरदे में अस्थान है, प्राणवायु का जान।
वाके रोके सब रुके, वायुन में परधान॥

संत का मत है—प्राण तो एक है, परन्तु काया में भिन्न स्थानों में अलग-अलग महत्व के कारण उसके नाम उसी प्रकार भिन्न-भिन्न हैं। जैसे एक ही गंगा के तट पर घाटों के नाम अलग-अलग होते हैं। प्रधान प्राणों के भेद दस हैं। परन्तु प्राण-अपान ही मुख्य है। इनके दीर्घ होने पर ही अपान-प्राण संयोग से चक्रों का भेदन हो पाता है—

प्राणवायु हिरदै के ठाहीं,
बसै अपान गुदा के माहीं।
वायु समान नाभि अस्थाना,
कण्ठ माहि बाई उदाना।
व्यान जु व्यापक है तन सारे,
नाक वायु सो उठे डकारे।
पलक उघारे कूरम बाई,
देवदत्त सूं होय जँभाई।
किरकल वायु जु भूख लगावै,
मुखै धनंजय देह फलावै।
सबमें प्राणवायु मुख जानो,
सो हिरदै मध्य बिछानो।
योगेश्वर ह्याई फल पावै,
ह्यासूं अनहद नाद जगावै।

जैसाकि पहले कहा जा चुका है कि प्राणायाम से सुषुम्ना द्वार शोधन होने पर महा-

शक्ति कुण्डलिनी जाग्रत होकर सर्व चक्रों का भेदन करती है। योगियों का मत है कि महेश्वर शिव की अनन्त शक्तियाँ और ज्ञान-स्वातन्त्र, कर्म स्वातन्त्र इन्हीं चक्रों में अव गुण्ठित है। चक्रों के भेदन से योगीको ईशत्व की प्राप्ति होती है। यह सब बातें सन्त के सरलतम् काव्यमय वाणी में देखें। अर्थ स्वयं में स्पष्ट है—

अब चक्कर वर्णन करूँ, पाछे प्राणायाम।
वरणू नारी सुषुमना, सुधरें सबही काम॥
हैं वे सूरति कमल की, छोटे और विशाल।
मूसूँ लेकर शीश लौ, एकहि जिनकी नाल॥
लाल रंग पहिला कहै, चक्रधार तिहि नाव।
चार पँखुरी तासु की, है जु गुदा के ठांव॥
है जु गुदा के ठांव, देह ताही पर साजे।
चारों अक्षर तहाँ, देव गन्नेश विराजे॥
पवन सुत ह्वां लं धरें, खोलि कहै शुकदेव।
दूजा लिंग स्थान ही, जाको सुन अब भेव॥
पीत वरण षट पँखरी, नाम जु स्वाधिष्ठान।
षट अक्षर जापें दिये, ब्रह्मा देवत जान॥
ब्रह्मा देवत जान, संग सावित्री दासा।
इन्द्र सहित सब देव, तहाँ सबही का वासा॥
मणिपूरक चक्कर कहै, तीजा नाभि स्थान।
नील वरण दस पँखरी, दश अक्षर परमान॥
विष्णु जहाँ का देवता, महा लच्छिमी संग।
चरणदास अब कहत हैं, चौथे को परसंग॥
अनहदचक्र हिरदय विषे, द्वादशदल अरुश्वेत।
शिवशक्ति जहँ देवता, द्वादश अक्षर भेद॥
पँचवां चक्कर कण्ठमें, विशुद्धनाम जिहिकेर।
षोडश दल जीव देवता, षोडश अक्षर हेर॥
छठ्यों भौहन बीच में, आज्ञा चक्कर सोय।
ज्योति देवता जानिये दो दल अक्षर दोय॥

योग का मार्ग

● श्री शिवानन्द

योग-साधना के मार्ग का तात्पर्य केवल यौगिक आसनों से नहीं है क्योंकि ये तो केवल मात्र शरीर को सन्तुष्ट रख सकते हैं, यद्यपि यह भी आवश्यक ही है। योग का अर्थ है मन को हमारे विचारों और भावनाओं की हलचल का कारण है। जीवन के मूल स्रोत आत्म-तत्व (चेतन-तत्व से जोड़ना, हमारा आत्मस्थ होना, आत्मानन्द का सूक्ष्म अनुभव करना।

सूर्य की किरण के साथ जुड़ते ही मिट्टी के कण में चमक आ जाती है और सम्बन्ध हटते ही वह फिर निर्जीव कण ही रह जाता है। प्रभु के साथ जुड़कर जीव को जीवन, चमक और आनन्द प्राप्त हो जाते हैं। दिन-रात समस्त सृष्टि में स्थिरता पूर्वक ब्रह्म तत्व की अनुभूति करते रहना मानो ब्रह्मानन्द है। लोक व्यवहार करते हुए भी मनुष्य की व्यष्टिगत चेतना में डूबते रहना और अपने मन तथा इन्द्रियों में भी विराट चेतना-विश्व चेतना का दर्शन करना मानो जीवन की श्रेष्ठ अवस्था है। यही शास्त्रोक्ति नित्य समाधि विधि है।

अशान्तस्य कुतः सुखम्

भगवान श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता में अर्जुन को जीवन तत्व समझाते हुए कहा है :

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ।।

गीता २/६६

अर्थात्—जिनका चित्त चंचल है, उनमें बुद्धि नहीं रहती और न ऐसे चंचल मन वाले को भावना ही प्राप्त हो पाती है, और न भावनाहीन मनुष्य को शान्ति मिल पाती है, और जब शान्ति नहीं मिल पाती तब उसे सुख भी कैसे मिल पायेगा। क्योंकि अशान्त और अयुक्त मन वालों को सुख मिल ही नहीं पाता है।

भगवान ने उपर्युक्त श्लोक में संक्षेपतः चार बातों को समझाया है—

१. जिसका चित्त चंचल है, इन्द्रियाँ वश में नहीं हुई है उसे स्थिर बुद्धि प्राप्त नहीं होती।
२. जिसकी बुद्धि स्थिर नहीं हुई है उसे भक्ति (भावना) प्राप्त नहीं होती।
३. जिसे परमात्मा की भक्ति नहीं प्राप्त होती उसे शान्ति नहीं मिल सकती। और
४. जिसे शान्ति नहीं मिलती उसे सुख भी नहीं मिल पाता।

प्रत्येक मनुष्य सुख प्राप्ति की कोशिश करता है। एक मनुष्य मोटर रखता है सुख पाने के लिए और दूसरा उसका त्याग करता है सुख के लिए। एक मनुष्य वैभव में सुख का अनुभव करना चाहता है तो दूसरा वैभव के त्याग में सुख देखना चाहता है। त्यागी को त्याग में आनन्द आता है और भोगी को भोग में। पर बाह्य वस्तुओं के त्याग और उपभोग में जो सुख मिलता है वह स्थायी नहीं होता। स्थायी और अक्षय सुख तो सदा अविनाशी परमात्मा की भक्ति में मन लगाने से मिलता है।

- विद्वता के साथ नम्रता का होना सोने पर सुहागा होने के समान है। —अज्ञात
- आदमी जितना महान होगा उतना ही नम्र होगा। —टैनिसन
- ज्ञान का अन्तिम लक्ष्य चारित्र्य निर्माण होना चाहिए। —गांधी
- ईश्वर ने बुद्धि की कोई सीमा निश्चित नहीं की है। —बेकन
- नारी की सप्त शक्तियों में पाँचवीं शक्ति है मेधा। —गीता

प्रारब्ध, संचित एवं क्रियमाण कर्म

● आचार्य डॉ० केशवराम शर्मा

"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजिविषेच्छतं समाः।"[1] "मनुष्य इस संसार में कर्मरत रहता हुआ ही एक सौ वर्ष तक जीवित रहने की कामना करे।" श्रीमद्भगवद्गीता में भी भगवान् कृष्ण ने "कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः"[2] का उपदेश देकर अर्जुन को सतत् कर्मशील बने रहने की प्रेरणा दी है। वास्तव में विविध कार्यों में व्यस्त रहना मनुष्य का परम धर्म है। इस संसार का एक नाम 'जगत्' है, जिसका अर्थ है—'गतिरस्मिन् विद्यते इति जगत्' अर्थात् गतिशीलता का ही दूसरा नाम 'जगत्' है। मनुष्य की स्थिति चिकने खम्भे पर चढ़ने वाले बन्दर जैसी है। जब तक ऊपर चढ़ने का प्रयास करता रहेगा, बढ़ता रहेगा, किन्तु जैसे ही विश्राम करना चाहेगा वह नीचे खिसकने लगेगा। अतः कल्याण-कामी मनुष्यों को सतत् आगे बढ़ने के लिए यत्नशील रहना चाहिए।

अनेक बार हम देखते हैं कि बहुत प्रयास करने पर भी अत्यल्प फल मिलता है और कभी-कभी मनुष्य उससे भी वंचित रह जाता है। ऐसी स्थिति में वह सोचने लगता है कि ईश्वर की सत्ता कपोल-कल्पना मात्र है और यदि है भी तो उस जगदात्मा के यहाँ कोई न्याय नहीं है। वस्तु-स्थिति यह है कि उस प्रभु के संकेत के बिना एक पत्ता भी टस से मस नहीं होता। उसकी न्याय-तुला भी शाश्वत निर्दोष रहती है। अब प्रश्न यह उठता है कि तब मनुष्य को कर्मानुकूल फल क्यों नहीं मिलता? इसके उत्तर में हम यही कहेंगे कि फल तो निश्चय ही कर्मानुकूल मिलता है, किन्तु उसे न्याय-तुला पर भली-भांति नाप-तौलकर दिया जाता है। यहीं से हमारे प्रस्तुत विषय का श्रीगणेश होता है।

तीन प्रकार के कर्म

हमारे कर्म तीन प्रकार के होते हैं—(१) संचित कर्म, (२) प्रारब्ध कर्म तथा (३) क्रियमाण कर्म। संचित कर्म जन्म-जन्मान्तर से एकत्र होते रहते हैं। उनके आधार पर प्राणी को शरीर त्यागने के पश्चात् नई योनि, माता-पिता, परिवार, सम्पन्नता-विपन्नता तथा सुन्दर या असुन्दर, स्वस्थ या अस्वस्थ शरीर आदिकी प्राप्ति होती है।

प्रारब्ध कर्म, संचित कर्मों का एक अंश मात्र होते हैं। हमारे क्रियमाण कर्मों के फल के साथ इनका सीधा सम्बन्ध होता है। यदि क्रियमाण कर्म शुभ तथा फलानुकूल हैं और प्रारब्ध कर्म भी संवादी हों तो तत्काल श्रेष्ठ फल की प्राप्ति होती है। स्पष्ट है कि क्रियमाण कार्य के साथ प्रारब्ध कर्म का जिस अनुपात में अनुकूल या प्रतिकूल योग होगा, वैसा ही फल मिलेगा। प्रारब्ध कर्म अति श्रेष्ठ होने पर प्रतिकूल क्रियमाण कर्मों का भी शुभ परिणाम मिलता है। यथा पाप-कर्म

१. यजुर्वेद, ४०/२
२. श्रीमद्भगवद्गीता, ३/८

करके भी धन-वैभव, अधिकार का पद और बन्धु-बान्धवों का सुख भोगता रहे, दुराचारी होकर भी सम्मानित होता रहे, थोड़े प्रयास से ही विद्या-बुद्धि का अधिकारी बन जावे।

निश्चित है कि यह क्रम अधिक समय तक सम्भव नहीं रहता। प्रारब्ध कर्मों की स्थिति सदैव एक जैसी नहीं रहती और इनकी स्थिति बदलते ही क्रियमाण कर्मों का फल भी तदनुकूल ही सुलभ या दुर्लभ हो जाता है। इस प्रसंग को और स्पष्ट करने के लिए हम एक उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं—

संचित कर्म इस प्रकार हैं—जैसे किसी बड़े परिवार का मुखिया अपने कुटुम्ब के साल भर के खर्च को ध्यान में रखकर अलग-अलग समय में, अलग-अलग स्थानों से, अलग-अलग प्रकार के गेहूँओं की दस बोरियाँ अपने गोदाम में भरकर रखले। इनमें से एक बोरी नित्य प्रति के उपयोग के लिए बाहर निकाली जायेगी और शेष समय आने पर बाद में एक-एक करके निकलती रहेंगी। यहाँ जिस बोरी के गेहूँओं का उपयोग अब हो रहा है, वह हमारे प्रारब्ध कर्मों की सूचक है और संग्रह करके रखी गई शेष बोरियाँ संचित कर्मोंके समान हैं। भोजन के स्वादिष्ट बनने या न बननेमें तत्काल खरीदी गई साग सब्जियाँ, जो हमारे क्रियमाण कर्मोंके समान होती हैं, उनका भी योगदान होता है और कैसे गेहूँ के आटे की रोटियाँ पकाई जा रही हैं। (प्रारब्ध कर्म) इस बात का भी कोई कम महत्व नहीं होता। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार रोटियों और दाल-सब्जियों के योग पर भोजन का आनन्द निर्भर करता है, ठीक उसी प्रकार प्रारब्ध कर्म और क्रियमाण कर्मों के योग से हमें अपने कर्मों का अच्छा या बुरा फल मिला करता है।

भोग-योनि तथा कर्म-योनि

इसी सन्दर्भ में यह उल्लेख करना भी अप्रासंगिक नहीं होगा कि केवल मानव-योनि ही ऐसी है, जिसमें प्राणी को कर्म करने की स्वतन्त्रता रहती है। वह अपने पाप तथा पुण्यों को घटाने-बढ़ाने में पूर्ण समर्थ रहता है। जड़-चेतन सृष्टि में व्याप्त शेष सभी योनियां मात्र भोग-योनियां हैं। पशु-पक्षी का शरीर धारण करके जीवात्मा अपने पूर्व संचित कर्मोंको थोड़ा शिथिल करने के अतिरिक्त कोई विशेष प्रगति नहीं कर सकता। बैल अपने स्वामी के संकेतके अभाव में किसी अन्य की सहायता करके परोपकार नहीं कर सकता। वह अपना भोजनादि भी किसी को दानस्वरूप देने में असमर्थ है। केवल मनुष्य को ही उस जगन्नियन्ता ने शुभाशुभ चाहे जैसे कर्म करने की पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान की है। यह भोग-योनि भी है और कर्म-योनि भी जबकि शेष केवल भोग-योनियाँ हैं।

स्वर्ग, नरक तथा मोक्ष

यदि मानव शरीर धारण करके भी हम अपने कल्याण की चेष्टा न करें तो इससे बड़ी मूर्खता क्या हो सकती है? हमारे कर्मों का स्वर्ग-नरक तथा मोक्ष से भी घनिष्ट सम्बन्ध है। अतः इसके विषय में भी थोड़ा प्रकाश डालना उचित रहेगा। अतिशय पुण्योंके प्रभाव से जीव को स्वर्ग का सुख मिलता है। यह उपलब्धि केवल उसी स्थिति में होती है, जब जीवात्मा के संचित पुण्य इतने अधिक हों कि उसे अच्छी से अच्छी योनि प्रदान करने के बाद भी उनका सन्तुलन सम्भव न हो सके। अर्थात् पृथ्वी के बड़े से बड़े भोग भी जब उस आत्मा विशेष के पुण्योंके सामने नगण्य प्रतीत होते हैं, तब उसे निश्चित काल तक स्वर्ग में

निवास करने का अवसर प्रदान किया जाता है, जहाँ वह नाना प्रकार के दिव्य भोगों का परमानन्द प्राप्त करता है। तदनन्तर वह जगन्नियन्ता ऐसी स्थिति उत्पन्न कर देता है कि उसे किसी सुशील, सम्पन्न और प्रतिष्ठित परिवार में उत्तम मानव शरीर प्रदान किया जा सके। श्रीमद्भगवद् गीता में जगदात्मा भगवान श्रीकृष्ण ने भी इसकी इन शब्दों में पुष्टि की है—

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं।
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।।[1]

अर्थात् "वे पुण्यात्मा पुरुष उस विशाल स्वर्गलोक में दिव्य भोगों को भोगकर बाद में अपने पुण्यों के क्षीण हो जाने पर पुनः मृत्यु-लोक में जन्म धारण करते हैं।

नरक की स्थिति स्वर्ग से सर्वथा विपरीत है। ऐसा प्राणी जो अपने पाप-समूहके कारण मृत्यु-लोक में निकृष्ट से निकृष्ट योनि को धारण करने की भी सामर्थ्य नहीं रखता, भगवान उसके भीषण पापों को क्षीण करने के लिए उसके निमित्त नरक की व्यवस्था करते हैं। जहाँ विविध यातनाओं को सहन करने के पश्चात् कालान्तर में वह किसी निर्धन, संस्कारहीन और निम्न वर्ग के परिवार में जन्म लेता है अथवा पशु-पक्षी या कीटादि की योनि को ग्रहण करता है।

मोक्ष की स्थिति इन दोनों से सर्वथा भिन्न है। जब तक जीवात्मा के संचित पुण्य तथा पाप-कर्म शेष रहते हैं, तब तक उसे उसका सुख-दुःख भोगने के लिए अनिवार्य रूप से विविध शरीर धारण करने पड़ते हैं। जब किसी समर्थ सद्गुरु के मार्ग-दर्शन में कठोर साधना के फलस्वरूप प्राणी के पाप-पुण्य शून्य पटल पर आ जाते हैं, तब शरीर त्यागने पर उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है। श्रीमद्भगवदगीता में ऐसे महान् साधक को 'स्थित प्रज्ञः' की संज्ञा प्रदान की गई है। इस सन्दर्भ में अर्जुन द्वारा जिज्ञासा करने पर भगवान श्रीकृष्ण गीता के दूसरे अध्याय में श्लोक संख्या ५५ से ७२ तक स्थित-प्रज्ञ महात्मा के विषय में बहुत ही सुन्दर डालते हैं। 'स्थाली पुलाकन्याय'[2] से हम इस विषय को थोड़ा और स्पष्ट करने के लिए उस प्रसंग का केवल एक श्लोक प्रस्तुत कर रहे हैं—

विषया विनिवर्तन्ते,
निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं,
दृष्ट्वा निवर्तते ।।[3]

(गीता २/५९)

जो प्राणी अपनी इन्द्रियों के द्वारा विषयों का उपभोग नहीं करता, कालान्तर में वह सांसारिक विषय-वासनाओं के मोह-जाल से तो छूट जाता है, किन्तु उसे सहज ही राग से मुक्ति नहीं मिलती। स्थित-प्रज्ञ साधक, क्योंकि परमात्मा का साक्षात्कार कर चुका होता है। अतः उसके हृदय से राग-भाव भी

---

१. श्रीमद्भगवद्गीता—९/२१

२. पात्र में पके हुए चावलों में से जिस प्रकार एक दाना देखकर शेष के सम्बन्ध में जान लिया जाता है, ठीक उसी प्रकार एक से अनेक का अनुमान लगाना।

३. श्रीमद्भगवद्गीता—२/५९

सर्वथा नष्ट हो जाता है।" इस प्रकार के सिद्ध पुरुष, जो साधना के बल से अपने समस्त संचित कर्मों का क्षय कर चुके होते हैं। वे अपने शेष जीवन काल में पाप-कर्म तो कर ही नहीं सकते। साथ ही पुण्य-कर्मों का भी स्वेच्छया परित्याग करते रहते हैं। अपने जीवन की निश्चित अवधि समाप्त करके ऐसे महात्मा सहज भाव से परमात्मा में लीन होकर इस संसार-चक्र से मुक्त हो जाते हैं।

यहाँ पाप-पुण्य की चर्चा अनावश्यक विस्तार में पड़कर मोक्ष के सम्बन्ध में यह कहना परमावश्यक है कि "बिना योगेन न मुक्तिः" अर्थात् योग-साधना के अभाव में मोक्ष की प्राप्ति असम्भव है। तभी तो भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को योगोन्मुख करते हुए कहा है—

तस्माद्योगी भवार्जुन।[1]

(अतः हे अर्जुन! तुम योगी बनो), क्योंकि—

योगो भवति दुःखहा।[2]

योग दुःखों को नष्ट करने वाला होता है।

आशा है कि इस लेखके पाठक भी योग-पथ का अनुसरण करके अपना कल्याण-पथ प्रशस्त करेंगे।

१. गीता, ६/४६
२. गीता, ६/१७

ईश्वर साक्षात्कार

● विनोबा

कहीं यह पूछा गया कि 'क्या हम भगवान् का रूप अपनी आँखों देख सकते हैं?' सचमुच सवाल बहुत बड़ा है, लेकिन उसका उत्तर है, अति सरल। भगवान् अव्यक्त भी है, व्यक्त भी। साकार भी है, निराकार भी। ईश्वर है भी और नहीं भी है। वह सगुण है, निर्गुण भी। वह सब प्रकार का है। यों तो जो विश्व सामने खड़ा है, सारा भगवान् का रूप ही है। लेकिन हम उसे उस प्रकार पहचान नहीं पाते। अपने चर्मचक्षुओं से ऊपरी ढाँचा, आकारमात्र देखते हैं, अन्तर का तत्व नहीं।

इसके अतिरिक्त ध्यान में मनुष्य की जैसी वासना होती है, तदनुसार भगवान् उसे वैसा रूप दिखाता है। उपासकों ने अपने चित्त की एकाग्रता और इन्द्रियों के आकर्षण से छूटने के लिए ध्यान की कल्पना की है। कोई चतुर्भुज विष्णु भगवान् का, कोई कृष्णचन्द्र का, कोई रामचन्द्र का, तो कोई ईसा का ध्यान करते और उस रूप में भगवान् को मानते हैं। कोई किसी रूप का तीव्र ध्यान करता हो, रात-दिन उसीका चिन्तन, मनन, भावन करता हो, तो उसके समाधानार्थ ध्यानावस्था में भगवान् वह रूप लेकर आ सकते हैं और इस तरह उसका समाधान हो सकता है।

उसे भगवद् रूप का दर्शन हुआ या नहीं, इसकी दूसरों को कल्पना नहीं आ सकती। लेकिन ध्यान समाप्ति के बाद उसका जो व्यवहार होगा, उस पर से लोगों को पता चलेगा। अवश्य ही उसने अपनी कल्पना का ही ईश्वर देखा, परिपूर्ण नहीं। फिर भी उतने से ही उसके चित्त का रूप बदल जायगा। जिसका चित्त भगवान के दर्शन प्राप्त कर लेगा स्पष्ट ही उसके जीवन में प्रेम और करुणा स्पष्ट रूपेण देखने को मिलेगी।

गीता तथा पातंजल योग सूत्रों में

एकात्मकता

● श्री द्वारिका प्रसाद शर्मा ●

भारतीय संस्कृति के उच्चतम आदर्शों को यदि कोई व्यक्ति एकत्र देखने तथा अध्ययन करने की आकांक्षा करना चाहे तो उसे योग योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण के मुखारविन्दु से निस्सृत गीता का मनोयोग से अध्ययन करना अभीष्ट होगा। गीता भारतीय संस्कृति की आत्मा है तथा एक ऐसा अमूल्य ग्रन्थरत्न है जिसकी समता का ग्रन्थरत्न न है, न कभी रहा और न ही कभी आगे बन सकेगा। इसमें निहित है ब्रह्मविद्या; इसमें भरा है उपनिषदों का सार। इसमें श्रोता हैं महाधनुर्धर अर्जुन तथा वक्ता हैं श्रीकृष्ण—नर एवं नारायण स्वयं इस अत्यन्त अद्भुत एवं परमपावन संवाद के संदेशवाहक बने हुए हैं। आत्मोत्कर्ष एवं आत्मिक अभ्युदय का यह शाश्वत गीत इस सप्तशत श्लोकी (७०० श्लोकों में) गीता में न जाने अब तक कितने ही असंख्य मानवों के परम-कल्याण का कारक बन चुका है तथा 'यावत चन्द्र दिवाकरौ' की कालावधि तक मानवमात्र की अन्तः प्रसुप्त चेतनाको जागृत कर उनमें नव-नवीन उद्भावनाओं की कल्याणमयी सृष्टि करता हुआ सार्वजनीय श्रेयस्करी प्रवृत्तियों का जनक बना रहेगा, इसमें किंचितमात्र सन्देह नहीं है। संक्षेप में इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि श्रीमद्भगवद गीता एक ऐसी अमूल्य धरोहर है जो सर्वदा पठनीय, मननीय तथा अभ्यसनीय है। यह महामुनि व्यास द्वारा रचित तथा भगवन्मुखारविन्द द्वारा निस्सृत एक अपूर्व ग्रन्थ-रत्न के रूप में मानव मात्र के जीवन में एक आलोक-स्तम्भ बन पद-पद पर सहायक सिद्ध होता है।

इसी प्रकार प्रसिद्ध योग-सूत्रों के प्रणेता भगवान पतंजलि ने भी स्वानुभव सिद्ध सत्यों का उद्घाटन कर मानवमात्र के कल्याण-पथ को प्रशस्ततर बनाने में अभूतपूर्व योगदान किया है। हमारे पूर्वज ऋषि व मुनि मन्त्र-द्रष्टा तथा सत्य-द्रष्टा रहे हैं। उनके द्वारा उच्चरित वाक् ही मन्त्र बनकर तथा त्रिकाल में सत्य होकर अवतरित हुई है। ऐसी पावन वाणी क्यों न जगतीतल में मानव मात्र के निमित्त श्रेयस्करी तथा यशस्करी हो। भगवान पतंजलिदेव ने चार पादों में "समाधिपाद, विभूति पाद, साधन पाद तथा कैवल्य पाद" के चार मणियों में प्रत्येक पाद की विभिन्न संख्याओं में रचित सूत्र-रत्नों के साथ एक मुक्ताहार जो विश्व के जन-जन हेतु समर्पित किया है। वह वस्तुतः सर्वथा अभिनन्दनीय, वन्दनीय तथा समभ्यसनीय एवं अनुकरणीय है। भगवान पतंजलिदेव के सूत्रों पर महा-मुनि व्यासकृत 'भाष्य' ही पातंजलि योग-दर्शन की सर्वातिशायी उत्कृष्ट महत्ता का परिचायक है।

इस लेख का प्रतिपाद्य विषय है कि श्रीमद्-भगवद् गीता में यत्र-तत्र जिस विषय को सग्राह्य किया गया है उसका समावेश पातंजल योग-दर्शन में सूत्रोंमें कहीं न कहीं दृष्टिगोचर हुआ है। गीता तथा पातंजल योग-दर्शन वास्तव में जीवन-दर्शन के प्रस्थापक दो अनमोल रत्न हैं, जिनसे जीवन को रत्नसम उत्कृष्ट एवं उज्ज्वल बना पाने की कला यत्र तत्र-सर्वत्र बिखरी हुई है। मात्र आवश्यकता है बस उस संग्राहक की, उस बटोरने वाले की जो उन्हें ग्रहण कर हृदयंगम करे तथा उन आदर्शों का आलिंगन कर अपने इस दुर्लभ नर-तनु को दिव्य सम्पदाओं से युक्त बनाकर जीवन के चरम लक्ष्य आत्म साक्षात्कार सहित उस परमात्म सत्ता में अपनी आत्म-सत्ता को विलीन कर तद्रूपता प्राप्त कर ले।

गीता तथा पातंजल योग-दर्शन दोनों ही ग्रन्थों के प्रतिपाद्य मुख्य विषय हैं—भगवद्-प्राप्ति अथवा कैवल्य भाव प्राप्ति, आत्म-प्राप्ति भी जिसे हम कह सकते हैं। गीता में १८ अध्याय हैं। प्रमुख रूप से प्रथम के छः अध्यायों में कर्मयोग का निरूपण किया गया है, दूसरे छः अध्यायों में भक्तियोग का विशद वर्णन है तथा तीसरे छः अध्यायों में ज्ञानयोग का व्याख्यापन हुआ है। संक्षेपतः हम यों कह सकते हैं कि भगवद्-प्राप्ति के तीन प्रकार के साधन-सोपान गीता में उपदिष्ट हैं—पहला कर्मयोग, दूसरा भक्तियोग तथा तीसरा ज्ञान-योग। इसी प्रकार महामुनि पतंजलि कृत चार पाद कैवल्य प्राप्ति अथवा आत्म साक्षात्कार हेतु विभिन्न साधन सोपान हैं, जिनसे मनुष्य क्रमशः जीवन-मार्ग को प्रशस्त करता हुआ अन्तिम एवं प्राप्तव्य लक्ष्य कैवल्य पद को प्राप्त कर लिया करता है।

पातंजल योग-दर्शन के आरम्भ में ही योग की व्याख्या करते हुए भगवान पतंजलिदेव ने एक सूत्र की रचना की "योगश्चित्तवृत्ति निरोधः" अर्थात् चित्त की वृत्तियों का सम्पूर्ण रूप से रोक देना ही "योग" है। देखने में समझने में तथा पढ़ लेने में यह सूत्र कितना छोटा तथा निरापद सा ज्ञात पड़ता है, परन्तु जितना यह छोटा है, इसके सम्यक् अनुशीलन तथा आचरण के लिए यह सम्पूर्ण जीवन भी बहुत ही छोटा दीख पड़ता है। कहने का अभिप्राय यह है कि चित्तवृत्तियों का उदय क्षण-प्रतिक्षण अविराम गति से हुआ करता है। उस वृत्ति-चक्र की उपरामता शनैः शनैः ही सम्भव है। उपरामता के क्रम में भी इन्द्रियों का उनके विषयों से प्रत्याहरण, यम, नियम, आसन, प्राणायाम, धारणा, ध्यान व समाधि। इन योग के अष्टांगों का सम्यक् रूपेण आचरण, श्रद्धापूर्वक, सुदीर्घ अवधि तक निरंतर अबाध रूपसे अभ्यास ही नितान्त वांछनीय एवं अपेक्षित है। पातंजल योग-सूत्र "स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढ़-भूमिः" के अनुसार अक्षरशः अनुभूत एवं सिद्ध सत्य है।

उपर्युक्त सिद्धान्त की परिपुष्टि योग-योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण अपने मुखारविन्द से मन की एकाग्रता पर बल देते हुए मानस चांचल्यको वशीभूत करने की शिक्षा, अभ्यास तथा वैराग्य के समाश्रय से पूर्ण करने के लिए अर्जुन के तत्सम्बन्धी प्रश्न के माध्यम से प्रदान कर रहे हैं। वे कहते हैं—

चंचलं हि मनः कृष्ण,
प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये,
वायोरिव सुदुष्करम्॥

असशयं महाबाहो,
मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय,
वैराग्येण च गृह्यते ॥

असंयतात्मना योगो
दुष्प्राप्य इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता,
शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥
—गीता ६/३४-३५-३६

भगवन्मुखारविन्द के उपर्युक्त वचनामृत कितने यथार्थ एवं हृदय स्पर्शी हैं। इनकी सत्यता में लेशमात्र भी सन्देह अथवा संशय नहीं है। जीवन के पग-पग पर मनुष्यमात्र इन यथार्थ सत्यों का अनुभव करता रहता है तथापि अभ्यास तथा वैराग्य की बलवती धारणा से इस दुर्निग्रही मन पर भी इन्द्रिय-जय आदि के माध्यमों से अथवा अन्यान्य प्राणायामादिक साधनों के अवलम्ब से—उपायों द्वारा विजय प्राप्त कर लिया करता है।

पातंजल योग-दर्शनकार ने भी इन्हीं विषयों के प्रतिपादनार्थ निम्न सूत्रों की सरचना कर दी—

श्रद्धापूर्वक निरन्तराभ्यासम्
तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः
अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः

वस्तुतः देखा जाय तो हमारा 'संकल्प-विकल्प वृत्तिमान' यह मन ही तो हमें सत्पथगामी या कुपथगामी या दूसरे शब्दों में शुभ संकल्पवान् या अशुभ संकल्पी बनाया करता है। इसको हम जिस ओर उन्मुख कर दें वह उसी प्रवृत्ति को धारणा करने वाला हो जाया करता है। वेद भगवान में भी मन की ऐसी वृत्तिमत्ता को स्वीकार करते हुए 'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु' की ऋचाओं की उद्घोषणायें ऋषिप्रवरों द्वारा की गई हैं। सारा खेल है भी इसी नटवर नागर चंचल राजा मन का ही। लोकोक्तियाँ कितनी सटीक तथा यथार्थ हैं इन्हीं मन के बारे में—

मन के हारे हार है,
मन के जीते जीत।

जितं जगत्तेन मनो हि येन—

परन्तु जैसा कि इससे पूर्व भी उल्लेख किया जा चुका है कि ये सूक्तियाँ पढ़ने-लिखने समझने में जितनी सुगम व सरल प्रतीत होती हैं इनका आचरण करने वाला स्वनामधन्य कोई एक विरला ही मनुज श्रेष्ठ इस धरतीतल पर ढूंढे से भी मिल पाना कठिन हुआ करता है क्योंकि यह 'असिधारा-व्रत' के सदृश कठिन परीक्षा के दौर से तप्तकाञ्चन सरीखे उत्तम व्यक्तित्व ही हुआ करते हैं।

इसके अतिरिक्त गीता में अखिलात्मा भगवान् श्रीकृष्ण ने 'भक्तियोग' के माध्यम से निम्न श्लोक द्वारा क्या ही सुगम, सरल व सुन्दर मार्ग इङ्गित किया है—

यत्करोषि यदश्नासि,
यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय,
तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥
शुभाशुभ फलैरेवं,
मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यास योग युक्तात्मा,
विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥

पातञ्जल योग सूत्रकार ने भी इसी सिद्धान्त का निरूपण निम्न सूत्रों के माध्यम से कर दिया है—

ईश्वर प्रणिधानाद् वा
यथाभिमतध्यानाद् वा
वीतरागविषयं वा चित्तम्
आदि ।

इससे स्पष्ट है कि भक्ति से ओतप्रोत मन भक्तियोग द्वारा अपने अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त कर लिया करता है। आवश्यकता है बस केवल इतनी कि वह मन को इस बात के लिए राजी कर ले कि वह किस माध्यम को अपनाकर दृढ़तापूर्वक अपने गन्तव्य पथ पर पहुंचना चाहेगा। एक बार अपनाये गए मार्ग से फिर विचलित होना या संशयालु होना यह पतन के कारण हुआ करते हैं। पतंजलि देव के, अनुसार 'संशयस्त्यान विक्षेपा: सहभुव:' संशय आदि वृत्तियों के लिये फिर उसमें स्थान नहीं है। श्रद्धातिरेक द्वारा ही वह सहज सम्भाव्य, है।

सा श्रद्धा जननीव योगिनं पाति ।

इसके अनुसार श्रद्धा एवं विश्वास से प्राप्तव्य एवं गन्तव्य पथ का अनुसरण तथा-वततथा तदनुसार ही होना चाहिए। भगवान् श्रीकृष्ण ने भी संशयात्मत व्यक्तियों को सचेत करते हुए निम्न श्लोक में अपने वचनामृत की अवतारणा की है—

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च
संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो
न सुखं संशयात्मन: ॥

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं
तत्पर: संयतेन्द्रिय: ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां
शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥
—गीता ४/४०-३९

पातंजल योगदर्शनकार ने 'निर्विचार वैशारद्येऽध्यात्मप्रसाद:' इस सूत्र की रचना कर भगवद्गीता के उस श्लोक का स्मरण दिला दिया है जिसे पाकर सब दुखों की निवृत्ति हो जाया करती है।

प्रसादे सर्वदु:खानां
हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु
बुद्धि: पर्यवतिष्ठते ॥
—गीता २/६५

तथा

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामा: ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ता: सुखदु:खसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढा: पदमव्ययं तत् ॥
—गीता १५/५

इसके अतिरिक्त 'ज्ञान योग' के माध्यम से भगवान् श्रीकृष्ण ने निम्न उपदेशामृत देकर हमें सचेत किया है।

मन्मना भव मद्भक्तो
मद्याजी मां नमस्कुरु ।
—गीता ९/३४

नाहं प्रकाश: सर्वस्य
योगमायासमावृत: ।
मूढोऽयं नाभिजानाति
लोको मामजमव्ययम् ॥
—गीता ७/२५

ये यथा मां प्रपद्यन्ते
तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
—गीता४/११

अन्ततः भगवान् श्रीकृष्ण के ये वचनामृत भी कितने यथार्थ एवं ग्राह्य हैं —

दैवी ह्येषा गुणमयी
मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते
मायामेतां तरन्ति ते ॥
—गीता ७/१४

भगवान श्रीकृष्ण की उक्त उक्ति मानव मात्र के लिए सर्वत्र ग्राह्य एवं अवबोध्य है। इस लघुजीवन में विविध प्रकार के सांसरिक क्रियाकलापों में प्रतिक्षण व्यस्त इस जीवन क्रम में मनुष्य को यह अवसर ही कहाँ कि वह स्वयं चेष्टावान् तथा आस्थावान् रहकर इस कठिन एवं दुस्साध्य मायामय संसार-सागर से अपने आपको उबार कर ले जाय। गुरुदेव के रूप में साक्षात् ईश्वर एवं सर्वसमर्थ प्रभु की चरण-शरण के द्वारा ही यह सुदुष्कर पथ भी सुकर एवं सुलभ हो जाया करता है। आवश्यकता है तो मात्र इतनी कि श्रद्धातिशय द्वारा हम गुरुदेव की अनुकम्पा के पात्र बनें तथा इस जीवन के परम लाभ को उनके सानिध्य की सन्निधि अवश्यमेव प्राप्ति करें।

-: जीवन और मृत्यु :-

● श्री दिव्यजी

जिस दिन मैंने जन्म लिया था,
जिस दिन मैंने जीवन पाया।
मृत्यु प्रेयसी ने भी हँसकर,
मुझे उसी दिन से अपनाया ॥

मेरी आयुष की माला में,
स्वांसों के सुन्दर से मोती।
जीवन देता रहा नियति हँस-
हँसकर उनको गई पिरोती ॥

किन्तु मृत्यु ने साथ-साथ ही,
लेकर उन्हें मसल डाला है।
स्वांसों की जो मिली धरोहर,
उसने उसे कुचल डाला है ॥

मेरी द्वार-देहरी पर ही,
दोनों का व्यापार रहा है।
क्षण-क्षण में लेने-देने का,
दोनों में व्यवहार रहा है ॥

जीवन और मृत्यु दोनों कब,
होकर अलग-अलग चलते हैं।
दोनों मेरे साथ-साथ हैं,
दोनों आस-पास पलते हैं।

इसीलिए तो मुझे मृत्यु से,
सच मानो कुछ द्रोह नहीं है।
और सत्य है यह भी मुझको,
जीवन से कुछ मोह नहीं है ॥

मोह-द्रोह का इन दोनों में, मुझे न भेद-भाव भाता है।
इन दोनों से इस दुनिया में, मेरा जन्म-जात नाता है ॥

पुनर्जन्म का सिद्धान्त

● श्री सुरेन्द्र बहादुरसिंह एम० ए०

बहूनि मे व्यतीतानि,
जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि,
न त्वं वेत्थ परंतप ।।
—गीता ४/५

'हे अर्जुन ! मेरे और तेरे बहुत से जन्म हो चुके हैं, परन्तु उन सबको तू नहीं जानता है और मैं जानता हूँ।' भगवान श्रीकृष्ण के इन वचनों के द्वारा पुनर्जन्म का सिद्धान्त स्पष्ट रूप से प्रतिपादित होता है। सभी भारतीय दार्शनिक प्रणालियाँ (चार्वाक को छोड़कर) यह स्वीकार करती हैं कि पुनर्जन्म का चक्र आदिकाल से मनुष्य कृत कर्म के आधार पर संचालित होता है। मनुष्य जो भी कर्म करता है, उस कर्म का फल उसे अवश्य भोगना पड़ता है। यदि कर्म शुक्ल (शुभ) हैं, तो सुख की प्राप्ति होगी और यदि कर्म कृष्ण (अशुभ) हैं, दुःखकी प्राप्ति होगी। जब एक मनुष्य जन्म में किये गये सारे कर्मों का फल वर्तमान जीवन में प्राप्त करना संभव नहीं हो पाता तो उसे अन्य मनुष्य योनि या मनुष्येतर योनि में प्राप्त करने के लिए जन्म लेना पड़ता है। जब तक कर्मों का क्षय नहीं होता, तब तक जन्म-मरण का चक्र चलता रहता है। यही है पुनर्जन्म का सिद्धान्त।

आधुनिक काल में पुनर्जन्म का सिद्धान्त एशिया महाद्वीप के बहुत बड़े भाग में एक सामान्य मान्यता के रूप में स्वीकृत है। प्राचीन काल में यह सिद्धान्त सारे संसार में व्यापक रूप से स्वीकार किया जाता था, किन्तु सन् ५४३ ई० कुस्तुन्तुनियाँ के ईसाई धर्म-सम्मेलन ने इसे अस्वीकार कर दिया, जिसके फलस्वरूप पश्चिमी देशों में अमान्य हो गया था, परन्तु यह सिद्धान्त इतना युक्ति संगत है कि आधुनिक काल में पश्चिम के लोगों ने पुनः इसे स्वीकार करना प्रारम्भ कर दिया है। पुनर्जन्म के सिद्धान्त द्वारा अनेक जटिल दार्शनिक प्रश्नों का उत्तर मिल जाता है तथा जीव विज्ञान के अनेक अव्याख्यात तथ्यों की भी व्याख्या हो जाती है। यही कारण है कि आधुनिक काल में इस सिद्धान्त को व्यापक मान्यता मिल रही है। प्राचीन काल में यूनानी विचारों में जोरोस्ट्रियन धर्म-शास्त्रों में, पारसी धर्म के उपदेशों में तथा ईसाई धर्म के प्राचीन पादरियों तथा जस्टिन मार्टर, सेण्टक्लीमेण्ट आदि के उपदेशों में तथा सूफी संतों एवं कवियों की रचनाओं में इस सिद्धान्त के प्रति विश्वास के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं, परन्तु इसका लिखित प्रमाण सर्व प्रथम वेदों में मिलता है। वैदिक काल के लोगों का यह विश्वास था कि दाह-संस्कार के साथ मनुष्य की दृष्टि सूर्य में, श्वांस वायु में, वाणी अग्नि में तथा उसके विभिन्न अवयव प्रकृति के विभिन्न अवयवों में विलीन हो जाते हैं। आत्मा अपने शुभ एवं अशुभ कर्मों का फल दूसरे लोकों में

जाकर प्राप्त करता है। वेदों में कुछ स्थलों पर आत्मा के वृक्षादि शरीरों में भी प्रवेश करने की चर्चा है।

किन्तु वेदों की अपेक्षा उपनिषदों ने पुनर्जन्म का अधिक विशद एवं स्पष्ट विवेचन किया है। प्राचीनतम उपनिषदों में छांदोग्य ने पितृयान और देवयान इन दो मार्गों का वर्णन आया है, जिनसे होकर मनुष्य की आत्मा मृत्यु के उपरांत गमन करती है। पितृयान मार्ग से गमन करने वाली आत्माओं का इस संसार में पुनरावर्तन (पुनर्जन्म) होता है, किन्तु देवयान मार्गसे जानेवाली आत्माओं का पुनरावर्तन नहीं होता। पितृयान को दक्षिणायन और देवयान को उत्तरायण नाम से भी अभिहित किया गया है। जो मनुष्य अपने जीवन में शुभ कर्म करते हैं, परोपकार एवं दानादि कर्म करते हैं, वे पितृयान के अधिकारी होते हैं। छान्दोग्य उपनिषद् के अध्याय ५, खण्ड १० में कहा गया है—

अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसंभवन्ति धूमाद्रात्रिं रात्रेरपरपक्षमपरपक्षाद्यान्षड् दक्षिणैति मासां स्तान्नैते संवत्सरमभिप्राप्नुवन्ति ।।३

अर्थात् जो गृहस्थ लोग ग्राम में इष्ट, पूर्त और दत्त ऐसी उपासना करते हैं, वे धूम को प्राप्त होते हैं। धूम से रात्रि को, रात्रि से कृष्ण पक्ष को तथा कृष्ण पक्ष से जिन छः महीनों में सूर्य दक्षिण मार्गसे जाता है उनको प्राप्त होते हैं। ये लोग संवत्सर को प्राप्त नहीं होते। आगे चलकर कहा गया है कि ये लोग दक्षिणायन महीनों से पितृ-लोक को, पितृ-लोक से आकाश को और आकाश से चन्द्रमा को प्राप्त होते हैं। वहाँ पर वे पशु, स्त्री एवं सेवक आदि के समान देवताओं के उपकरणमात्र होते हैं, जब तक इन आत्माओं के पुण्य कर्म समाप्त नहीं होते, तब तक ये चन्द्रलोक में आनन्द लेती रहती हैं, किन्तु पुण्य के समाप्त होने पर आकाश, वायु, धूम, धुन्ध, मेघ, वर्षा, वनस्पति एवं बीज से होती हुई भोजनके माध्यम से ये पुरुषमें प्रवेश पाकर माँ के गर्भमें प्रवेश करती हैं और पुनः जन्म लेती हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि आत्मायें परलोक में कर्मोंका भोग भी भोगती है तथा पुनर्जन्म भी लेती हैं। ठीक इसी प्रकार का वर्णन बृहदारण्यक उपनिषद् (जो अति प्राचीन उपनिषद् है) में भी आता है।

पुनर्जन्म के सिद्धान्त में विश्वास के अभाव का एकमात्र कारण है पुनर्जन्म की विस्मृति। परन्तु विस्मृति किसी सत्य को असिद्ध करने का आधार भला कैसे हो सकती है? हमारा अस्तित्व क्या हमारी स्मृति पर निर्भर है? हमें इसी वर्तमान जीवनके अनेक क्षण, अनेक अवसर, अनेक स्तर विस्मृत हो चुके हैं। अतः उन्हें याद न रहने के आधार पर नकारा नहीं जा सकता। हमें अपनी शैशवावस्था के दिन याद नहीं रहते। तो क्या इसीलिए हम कह सकते हैं कि हम कभी शिशु थे ही नहीं? जब हमें इसी जीवन के अनेक भाग याद नहीं हो रहे हैं तो पिछले जन्म का याद न रहना कौनसा आश्चर्य है? यह भी एक प्रकार से ठीक ही है जो कि हम अपने पिछले जन्मों को भूले हुए हैं अन्यथा हमारा वर्तमान जीवन अनेक उलझनों और विपत्तियों से भर जाता। यद्यपि सामान्य मानव प्राणी अपने विगत जन्मों को भूला हुआ है तथापि प्राचीन काल से लेकर आज तक कुछ न कुछ ऐसे असाधारण मनुष्यभी उत्पन्न होते रहे हैं, जिन्हें

अपने पिछले जन्मोंकी स्मृति रही है। वर्तमान काल में इस प्रकार के सैकड़ों उदाहरण हैं— राजस्थान के एक विश्वविद्यालय के पैरासाइकोलॉजी विभाग के प्रो० बनर्जी ने इकट्ठे किये हैं। कोई भी मनुष्य अपने विगत जन्मों को योग-साधना द्वारा प्रत्यक्ष देख सकता है, जिसका उपाय महर्षि पतंजलिजी ने योग-सूत्र में इस प्रकार बतलाया है—

संस्कार साक्षात्करणात् पूर्वजाति-ज्ञानम्।

अर्थात् संस्कार के साक्षात् करने से पूर्व जन्म का ज्ञान होता है। 'समत्रफलसुत्त' ग्रंथ के अनुसार गौतम बुद्ध को अपने अतीत के समस्त जन्मों का स्मरण हो गया था।

प्रायः सभी धर्म मृत्यु के पश्चात् भी आत्मा के अस्तित्व में विश्वास रखते हैं, परन्तु मृत्यु के बाद का अस्तित्व जन्म के पूर्व के अस्तित्व को पूर्व मान्यता प्रदान करता है। जो मृत्यु के परे होगा, वह जन्म के परे भी अवश्य होगा। उसका होना भौतिक शरीर की उत्पत्ति तथा विनाश पर निर्भर नहीं करता। प्रसिद्ध पाश्चात्य दार्शनिक डैविड ह्यूम ने अपनी पुस्तक "The Immortality of Soul" में लिखा है कि "अतः यदि आत्मा अमर है, तो यह मानना पड़ेगा कि वह जन्म के पूर्व भी विद्यमान था और यदि उसका पूर्व अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जाता तो भावी अस्तित्व अचिन्त्य हो जाता है।" यदि ईसाई धर्म-ग्रन्थों के अनुसार अनन्त जीवन सत्य है तो यह भी निश्चय रूप से सत्य है कि आत्मा अतीत में भी अनादि था। स्वामी विवेकानन्द ने इसी बात को लक्ष्य करके लिखा है—

"If you are going to exist in enternity hereafter it must be that you have existed through enternity in the post; it can not be otherwise."

यदि हम कहें कि जीवन अनन्त है, यद्यपि यह प्रारम्भयुक्त है, तो यह बात युक्तिसंगत नहीं होगी, क्योंकि जिसका प्रारम्भ काल के अन्तर्गत होता है, उसका अन्त भी अवश्य ही काल के अन्तर्गत होता है। वह काल के परे नहीं जा सकता। जो काल के परे था, वही काल के परे होगा।

आधुनिक जीव वैज्ञानिक पुनर्जन्म के सिद्धांत को नहीं मानते। वे व्यक्तियों के विकास, स्वभाव एवं व्यवहार की व्याख्या वंशानुक्रम तथा वातावरण के सिद्धांत द्वारा करते हैं, किन्तु कर्मवाद यह कहता है कि मनुष्य के पिछले जन्मों के कर्मों के संस्कारों के द्वारा उसके वर्तमान जन्म की सारी विशेषताएं निर्धारित की जाती हैं। मनुष्य का स्वभाव उसके विशेष गुण, उसकी प्रतिभा की मात्रा इत्यादि उसके पिछले जन्मों के अभ्यास का परिणाम है, किन्तु जीव-विज्ञान कहता है कि ये सब चीजें मनुष्य के अपने माता-पिता से वंशानुक्रम के रूप में तथा वातावरण के प्रभाव से प्राप्त होती हैं। यदि जीव वैज्ञानिकों की बात को हम सत्य मान लें तो अनेक ऐसे प्रश्न उठ खड़े होते हैं, जिनके उत्तर इन वैज्ञानिकों के पास नहीं होते। उदाहरण के लिए, क्या कारण है कि एक ही माता-पिता से उत्पन्न बालकों के स्वभाव व प्रतिभाओं में विरोधात्मक अन्तर होता है? दो जुड़वां बालक एक ही वातावरण में पाले जाने के उपरान्त भी गुण और स्वभाव में वैषम्य रखते हैं? क्या कारण है कि कभी-कभी आदि शंकराचार्य, अरस्तू और विलियम हैमिल्टन जैसे अप्रतिम प्रतिभावान उत्पन्न हो जाते हैं? इन सब प्रश्नों का उत्तर

इन वैज्ञानिकों के पास है 'Chance' या 'आकस्मिक'। परन्तु विज्ञान ही यह भी कहता है कि—

"Nothing can happen without a cause.'

'Every event has a sufficient cause for it.'

कर्म का सिद्धान्त भी कहता है कि कोई भी कार्य, कोई भी घटना, कोई भी परिवर्तन बिना पर्याप्त कारण के नहीं हो सकता है। यदि विलियम हैमिल्टन तेरह वर्ष की अवस्था में ही तेरह भाषायें धारा प्रवाह बोल लेता था तो क्या उसमें यह योग्यता उसके माता-पिता से संक्रमित हुई थी अथवा परिवेश से प्राप्त हुई थी ? यदि हाँ, तो अन्यों को क्यों नहीं प्राप्त हुई ? इन सब प्रश्नों का उत्तर पूर्व जन्म को स्वीकार करके कर्म के सिद्धांत द्वारा ही दिया जा सकता है।

वास्तव में आत्मा अमर है, अनादि है और अनन्त है। यह अनादि काल से जन्म-मृत्यु के चक्र में पड़ा है। जब तक वह इस चक्रमें पड़ा है तब तक इसकी संज्ञा जीवात्मा है। मुक्ति के पश्चात् यद्यपि इसका पुनर्जन्म नहीं होता, फिर भी यह अस्तित्व में रहता है। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है—

न त्वेवाहं जातु नासं,
न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः,
सर्वेवयमतः परम् ॥

—गीता २/१२

अर्थात् न तो ऐसा ही है कि मैं किसी काल में नहीं था अथवा तू नहीं था अथवा ये राजा लोग नहीं थे और न ऐसा ही है कि इससे आगे हम सब नहीं रहेंगे।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय,
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥

—गीता २/२२

जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्यागकर अन्य नये वस्त्रों को धारण करता है, उसी प्रकार जीवात्मा पुराने शरीरों को त्याग कर दूसरे नये शरीरों को ग्रहण करता है।

पुनर्जन्म का सिद्धान्त कर्म के सिद्धान्त का पूरक है। मनुष्य अपने कर्मों का भुगतान करने के लिए ही पुनर्जन्म ग्रहण करता है। कर्म का सिद्धात ही जीव को जन्म-मृत्यु के चक्र में बाँधता है। जब तक मनुष्य इस संसार के प्रति आसक्त बना रहता है, तब तक कर्म उसे बांधे रहते हैं, किन्तु जब वह अपने वास्तविक आत्म-स्वरूपमें प्रतिष्ठित हो जाता है तो कर्मका बंधन छूट जाता है और उसका पुनर्जन्म नहीं होता।

पुनर्जन्म की प्रक्रिया पर भी विचार करना यहाँ असंगत न होगा। इस प्रक्रिया के बारे में हम ऊपर छांदोग्योपनिषद् का उदाहरण दे चुके हैं, परन्तु वह उतना पर्याप्त व स्पष्ट नहीं है, जितना कि पुराणों में दिए गये वर्णनों से स्पष्ट होता है। कर्मपाश में बँधे हुए स्वर्ग आदि में पुण्य-कर्मों का फल भोग कर तथा नरक यातनाओं में पापोंका अत्यन्त दुःखदायी फल भोगकर क्षीण हुए कर्मों के अवशेष भाग से इस लोक में आकर स्थावर, जंगम योनियों में जन्म लेते हैं।

ः परब्रह्म: तेजःपुंज ः

❀ डॉ० अनिरुद्ध प्रधान

परब्रह्म पुरुषोत्तम ने देवों पर कृपा करके उन्हें शक्ति प्रदान की, जिससे उन्होंने असुरों पर विजय प्राप्त करली। यह विजय वस्तुतः भगवान् की ही थी, देवता तो केवल निमित्तमात्र थे, परन्तु इस ओर देवताओं का ध्यान नहीं गया और वे लोग अभिमान-वश यह मानने लगे कि हम बड़े भारी शक्तिशाली हैं एवं हमने अपने ही बल-पौरुष से असुरों को पराजित किया है। देवताओं के मिथ्याभिमान को परम करुणामय भगवान समझ गये। भक्त-कल्याणकारी भगवान ने सोचा कि यह अभिमान बना रहा तो इनका पतन हो जायगा। भक्त-सुहृद भगवान भक्तों का पतन कैसे देख सकते थे। अतः देवताओं पर कृपा करके उनका दर्प चूर्ण करने के लिए वे उनके सामने दिव्य साकार यक्षरूप में प्रकट हो गये। देवता आश्चर्य-चकित होकर उस अत्यन्त अद्भुत विशाल रूप को देखने और विचार करने लगे कि यह दिव्य यक्ष कौन है; पर वे उसको पहचान नहीं सके।

देवता उस महाकाय दिव्य यक्ष को देखकर मन ही मन सहम गये और उसका परिचय जानने के लिए व्यग्र हो उठे। अग्निदेवता परम तेजस्वी हैं, वेदार्थ के ज्ञाता हैं, समस्त जात-पदार्थों का पता रखते हैं और सर्वज्ञ से हैं। इसीलिए उनका गौरवयुक्त नाम 'जातवेदा' है। देवताओं ने इस कार्यके लिए अग्नि को ही उपयुक्त समझा और उन्होंने कहा—हे जातवेदा! आप जाकर इस यक्ष का पूरा पता लगाइये कि यह कौन है? अग्नि देवता को अपनी बुद्धि-शक्ति का गर्व था। अतः उन्होंने कहा—अच्छी बात है! अभी पता लगाता हूँ।

अग्निदेवता ने सोचा, इसमें कौनसी बड़ी बात है और वे तुरन्त यक्ष के समीप जा पहुँचे। उन्हें अपने समीप खड़ा देखकर यक्ष ने पूछा—आप कौन हैं? अग्नि ने सोचा, मेरे तेजःपुञ्ज स्वरूप को सभी पहचानते हैं, इसने कैसे नहीं जाना। अतः उन्होंने तमक कर उत्तर दिया—"मैं प्रसिद्ध अग्नि हूँ, मेरा ही गौरवमय और रहस्यपूर्ण नाम जातवेदा है।" अग्नि की गर्वोक्ति सुनकर ब्रह्म ने अनजान की भाँति कहा—अच्छा! आप अग्नि देवता हैं और जातवेदा—सबका ज्ञान रखने वाले भी आप ही हैं? बड़ी अच्छी बात है; पर यह तो बताइये कि आपमें क्या शक्ति है, आप क्या कर सकते हैं? इस अग्नि ने पुनः सगर्व उत्तर दिया—'मैं क्या कर सकता हूँ, इसे आप जानना चाहते हैं? अरे, मैं चाहूँ तो इस सारे भूमण्डल को जलाकर राख का ढेर कर दूँ।' अग्निदेवता की पुनः गर्वोक्ति सुनकर सबको सत्ता-शक्ति देने वाले यक्षरूपी परब्रह्म परमेश्वर ने उनके सामने एक सूखा तिनका डालकर कहा—'आप तो सभी को जला सकते हैं, तनिक-सा बल लगाकर इस सूखे तृण को जला दीजिये।' अग्निदेवता ने मानो इसको अपना अपमान समझा और वे सहज ही उस तृण के पास पहुँचे। जलाना

चाहा; जब नहीं जला तो उन्होंने उसे जलाने के लिए अपनी पूरी शक्ति लगादी, पर उसको तनिक-सी आँच भी नहीं लगी। आँच लगती कैसे? अग्नि में जो अग्नित्व है, दाहिका शक्ति है, वह तो शक्ति के मूल भण्डार परमात्मा से ही मिली हुई है। वे यदि उस शक्ति के स्रोतको रोक दें तो फिर शक्ति कहाँ से आयेगी। अग्नि का सिर लज्जा से झुक गया और वे हतप्रभ होकर चुपचाप देवताओं के पास लौट आये और बोले कि 'मैं भली-भाँति नहीं जान सका कि यह यक्ष कौन है।'

जब अग्निदेव असफल होकर लौट आये, तब देवताओं ने इस कार्य के लिए अप्रतिम-शक्ति वायुदेव को चुना। वायुदेव को भी अपनी बुद्धि-शक्ति का गर्व था। अतः उन्होंने भी कहा—अच्छी बात है, अभी पता लगाता हूँ। वायुदेवता ने सोचा कि अग्नि कहीं भूल कर गये होंगे, नहीं तो यक्ष का परिचय जानना कौन बड़ी बात थी। अस्तु, इस सफलता का श्रेय मुझको ही मिलेगा। यह सोचकर वे तुरन्त यक्ष के समीप जा पहुँचे। उन्हें अपने समीप खड़ा देखकर यक्ष ने पूछा—आप कौन हैं? वायु ने भी अपने गुण-गौरव के गर्व से तमक कर उत्तर दिया—'मैं प्रसिद्ध वायु हूँ, मेरा ही गौरवमय और रहस्यपूर्ण नाम मातरिश्वा है।'

वायु की भी वैसी ही गर्वोक्ति सुनकर ब्रह्म ने इनसे भी वैसे ही अनजान की भाँति कहा—'अच्छा! आप वायुदेवता हैं और मातरिश्वा। अन्तरिक्ष में बिना किसी आधार के विचरण करने वाले भी आप ही हैं? बड़ी अच्छी बात है। पर यह तो बताइये कि आप में क्या शक्ति है, और आप क्या कर सकते हैं?' इस पर वायु ने भी अग्नि की भाँति ही पुनः सगर्व उत्तर दिया कि मैं चाहूँ तो इस सारे भूमण्डल में जो कुछ भी देखने में आ रहा है, सबको बिना आधार के उठा लूँ, उड़ा दूँ। वायुदेवता की गर्वोक्ति सुनकर सबको सत्ता-शक्ति देने वाले परब्रह्म परमेश्वर ने उनके आगे भी एक सूखा तिनका डालकर कहा—'आप तो सभी को उड़ा सकते हैं। तनिक-सा बल लगाकर इस सूखे तृणको उड़ा दीजिये।' वायुदेवता ने भी मानो इसको अपना अपमान समझा और वे सहज ही उस तृण के पास पहुँचे, उसे उड़ाना चाहा। जब नहीं उड़ा तो उन्होंने अपनी पूरी शक्ति लगा दी। परन्तु शक्तिमान परमात्मा के द्वारा शक्ति रोक लिए जानेके कारण वे उसे तनिक सा हिला भी न सके और अग्नि की भाँति हत-प्रतिज्ञ और हतप्रभ होकर लज्जा से सिर झुकाये वहाँ से लौट आये एवं देवताओं से बोले कि 'मैं तो भलीभाँति नहीं जान सका कि यह यक्ष कौन है?'

जब अग्नि और वायु सरीखे अप्रतिम शक्ति और बुद्धि-सम्पन्न देवता असफल होकर लौट आये और उन्होंने कोई कारण भी नहीं बताया, तब देवताओं ने विचार करके स्वयं देवराज इन्द्र को इस कार्य के लिए चुना और कहा—'हे महान बलशाली देवराज! अब आप ही जाकर पूरा पता लगाइये कि यह यक्ष कौन है? आपके सिवाय अन्य किसी से इस काम में सफल होने की सम्भावना नहीं है।' इन्द्र 'बहुत अच्छा' कहकर तुरन्त यक्ष के पास गये, पर उनके वहाँ पहुँचते ही वह उनके सामने से अन्तर्धान हो गया। इन्द्र में इन देवताओं से अधिक अभिमान था। इसलिए ब्रह्म ने उनको वार्तालाप का तो अवसर नहीं दिया, परन्तु इस एक दोष के अतिरिक्त अन्य सब प्रकार से इन्द्र अधिकारी थे। अतः उन्हें ब्रह्म तत्व का ज्ञान कराना आवश्यक

समझ कर इसी की व्यवस्था के लिए वे स्वयं अन्तर्धान हो गये।

यक्ष के अन्तर्धान होने पर इन्द्र वहीं खड़े रहे, अग्नि-वायु की भाँति वहाँ से लौटे नहीं। इतने में ही उन्होंने देखा कि जहाँ दिव्य यक्ष था, ठीक उसी जगह अत्यन्त शोभामयी हिमाचलकुमारी उमादेवी प्रकट हो गई हैं। इन्द्र ने भक्तिपूर्वक उनसे कहा—'भगवती! आप सर्वज्ञ शिरोमणि ईश्वर श्रीशङ्करजी की स्वरूपा-शक्ति हैं। अतः आपको अवश्य ही सब बातोंका पता है। कृपापूर्वक मुझे बताइये कि यह दिव्य यक्ष, जो दर्शन देकर तुरन्त ही छिप गया। वस्तुतः कौन है और किस हेतु यहाँ प्रकट हुआ था।' तब भगवती उमादेवी ने इन्द्र से कहा कि तुम जिस दिव्य यक्ष की बात कर रहे हो, वे साक्षात् परब्रह्म परमेश्वर हैं। तुम लोगों ने जो असुरों पर विजय प्राप्त की है, यह उन ब्रह्म की शक्ति से ही की है। अतएव यह उन परब्रह्म की ही विजय है। तुम तो इसमें निमित्त मात्र थे, परन्तु तुम लोगोंने ब्रह्म की इस विजय को अपनी विजय मान लिया और उनकी महिमा को अपनी महिमा समझने लगे। यह तुम्हारा मिथ्याभिमान था और जिन परम कारुणिक परमात्मा ने तुम लोगों पर कृपा करके असुरों पर तुम्हें विजय प्रदान कराई, उन्हीं परमात्मा ने तुम्हारे मिथ्याभिमान का नाश करके तुम्हारा कल्याण करने के लिए यक्ष के रूप में प्रकट होकर अग्नि और वायु का गर्व चूर्ण किया एवं तुम्हें वास्तविक ज्ञान देने के लिए मुझे प्रेरित किया। अतएव तुम अपनी स्वतन्त्र शक्ति के सारे अभिमान का त्याग करके जिन ब्रह्म की महिमा से महिमान्वित और शक्तिमान बने हो, उन्हीं की महिमा समझो।

उपर्युक्त प्रसंग 'केनोपनिषद्' में आता है। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने गीता में इस सिद्धांत को निम्न श्लोक द्वारा प्रतिपादित किया है—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं,
श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं,
मम तेजोंऽशसंभवम्॥

(गीता १०/४१)

इसलिए हे अर्जुन! जो-जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त एवं कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उसको तू मेरे तेजके अंश से ही उत्पन्न हुई जान। अतः हम साधकों को श्रीगुरुदेवजी के बताये हुए मार्ग पर चलना चाहिए। मानव-जन्म अत्यन्त दुर्लभ है। इसे पाकर जो मनुष्य परमात्मा की प्राप्ति के साधन में तत्परता के साथ नहीं लग जाता, वह बहुत भूल करता है। मनुष्य जन्म के सिवा जितनी और योनियाँ हैं सभी केवल कर्मोंका फल भोगनेके लिए ही मिलती हैं। उनमें जीव परमात्मा को प्राप्त करने का कोई साधन नहीं कर सकता। बुद्धिमान पुरुष इस बात को समझ लेते हैं और श्री गुरुदेवजी द्वारा दिखाये मार्ग पर चलकर परमात्मा का साक्षात्कार करते हुए सदा के लिए जन्म-मृत्यु के चक्र से छूट कर अमर हो जाते हैं।

योगेश्वर महाप्रभु

श्री रामलालजी महाराज

की

दिव्य जीवन-गाथा

श्री श्यामलाल खन्ना "श्याम"

-: वंशावली :-

पूरवजों की कथा सुनाऊँ। थोड़ा-थोड़ा हाल बताऊँ ॥
जो पंजाब में जिला जलंधर। त्रिहारा नाम ग्राम वहीं पर ॥
पंडित हरिनाम महा ज्ञानी। छोड़ी नगरी बाढ़, है मानी ॥
नौशहरा में किया बसेरा। जिला लाहौर ग्राम सुनहरा ॥
पाँचवीं पीढ़ी चढ़त रामजी। योगाभ्यासी अति वैरागी ॥
रैन दिना हरि के गुण गावें। मन मन्दिर में जोत जलावें ॥
भोग-विलास तनिक न भाता। मन में हरदम बस यह आता ॥
जंगल जाके धूनी रमाऊँ। योग के उच्चे पद को पाऊँ ॥

दोहा—सदा प्रभु का ध्यान धर, माँगें यह वरदान।
एक पुत्र मोहि दीजिये, होवे ना कुलकाहान ॥

तब मैं जंगल जा पाऊँगा। फिर न घर वापस आऊँगा ॥
इकदिन ग्राम के बाहर आए। स्नान किया प्रभुमें चित्त लाए ॥
एक व्यक्ति वहाँ आकर बोला। घर का भेद है उसने खोला ॥
तुमरे घर इक लड़का आया। सुन्दर रतन है तुमने पाया ॥
जल्दी-जल्दी घर को जाओ। जाकर पुत्र के दर्शन पाओ ॥
भाग्यवान तुम पण्डित प्यारे। अति सुन्दर सुत पर सब वारे ॥
घर में खुशियाँ मचल रही हैं। सम्बन्धी सब आज वहीं हैं ॥
मीठा मुँह अब करो हमारा। पुत्र हुआ है प्यारा-प्यारा ॥

दोहा—पण्डितजी ने जब सुनी, खुशी भरी यह बात।
खुशी के आँसू भर गये, पुलकित हो गये गात ॥
इच्छा पूरी हो गई, प्रभू कृपा से आज।
अब मैं वन में जाऊँगा, तज कर सभी समाज ॥

उसी समय वह जंगल धाये। वापस घर फिर कभी न आये ॥
जैसे रिश्ता कोई नहीं है। मन में बन्धन रहा नहीं है ॥
राम ही है रखवारा सबका। यह परिवार मेरे प्रभु का ॥
प्रभु रक्षा तुम इनकी करना। मुझ को रखना अपने चरणों ॥

दोहा—ऐसा सोच विचार कर, चढ़त राम विद्वान।
मस्ती में झूमन लगे, करते प्रभु गुण गान ॥

गाना

दया कर, दया कर, दया करने वाले।
तू ने ही तोड़े हैं ममता के ताले॥
न बेटा है कोई, न बीबी है कोई।
झूठे हैं रिश्ते, अपना न कोई।
मुझे रूप अपने में भगवन मिला ले॥
तीनों गुणों की है सृष्टि यह सारी।
है नश्वर यह दुनिया, और देह हमारी।
मुझे दिव्य ज्योति तू अपनी दिखादे॥
मैं चौरासी लाखों में क्यों घूम जाऊँ।
समाधि लगा के न क्यों तुमको पाऊँ।
वैराग इतना तू मेरा बढ़ा दे॥
अभ्यास वैराग्य यह दो हैं साधन।
इन्हीं में लगाया हुआ मैंने तन मन।
मुझे दर्श अपना दिखादे, दिखादे॥
अग्नि में जल जायें ये जिस्म सारे।
रहूँ किस लिये मैं इनके सहारे।
कैवल्यः देन दे श्री श्याम प्यारे॥
दया कर दया कर दया करने वाले॥

दोहा—पण्डित चङ्गूरामजी, ले बैठे सन्यास।
साईंदास सुपुत्र तो, रह गये माता पास॥
माता करती तो क्या करती। पैर तले से निकली धरती॥
जाऊँ तो अब जाऊँ कहाँ मैं। कोई सहारा पाऊँ कहाँ मैं॥
बुग्याने में मेरा भाई। यही सोच मायके में आई॥
ढारस भाई बहिन को दीनी। जुम्मेदारी सर पर लीनी॥
साईंदास कुछ बड़े हुए तो। विद्या अध्ययन करने लगे वो॥
जिसने बाप का मुँह न देखा। यह था वही पण्डित का बेटा॥
घुट्टी में थी ईश्वर भक्ति। ज्ञान ज्वाला मन में धधकी॥
आयु बढ़ी तो आई जवानी। मन्त्र सिद्ध करने की ठानी॥
दोहा—रावी के तट जाय के, कुटिया लीन बनाय।
घोर तपस्या की शुरू, चालिस दिन को आय॥
घर में माता से नहीं, अपनी बात बताय।
मामा से और गुरू से, यह किया छिपाय॥

साईंदास जब घर नहीं आया । माँ के मनने अति दुःख पाया ।।
रात को नींद उसे नहीं आई । रो रो कहती ढूँढो भाई ।।
कहाँ गया मेरा लाल दुलारा । मेरा तो वही एक सहारा ।।
उसके बिन मैं जी न सकूँगी । वह न मिला तो मैं भी मरूँगी ।।

दोहा—मुझ दुःखयारी का नहीं और कोई आधार ।
पति तो जंगल जा चुके, पुत्र न जाऊँ हार ।।
मामा ढूँढ़त फिरत है, ढूँढ़ें ग्राम के लोग ।
साईंदास पर ना मिला, माँ का बड़ा वियोग ।।
अड़तीस दिन जब बीत गये, पता न लगा कोई ।
माता व्याकुल हो रही, निधि सारी मैं खोई ।।

रहा न मेरा कोई सहारा । जाने कहाँ गया लाल हमारा ।
डूब मरूँ या विष खा जाऊँ । जीवन का कोई ठौर न पाऊँ ।।
सहसा उस दिन रावी तट पर । किसीने देखी कुटिया आकर ।।
भागा भागा गांव में आया । साईंदास का हाल सुनाया ।।
मामा भागे-भागे आए । साईंदास को लिया बुलाए ।।
साईंदास बोले मामाजी । इक दिन का अनुष्ठान है बाकी ।।
कल मैं आपके साथ चलूँगा । इक दिन पूजा और करूँगा ।।

दोहा—मामा ने फटकार दी, आज नहीं छोड़ूँ तोय ।
माता तेरी रो रही, पत्थर दिल क्यों होय ।।
क्या तू पूत कपूत है, माँ का जरा न ध्यान ।
ऐसी भक्ति क्यों करे, जो मूरख अज्ञान ।।

वचन कठोर मामाके सुनकर । अर्घ दिया चल दिये आचमन कर ।
'साईंदासजी' घर को आए । माँ के आगे सीस झुकाए ।।
क्षमा करो मुझको महतारी । भूल हुई मुझसे है भारी ।।
पर मैं ब्राह्मन सुत हूँ माता । धर्म मेरा मुझ को उकसाता ।।
तप कर ब्राह्मण तेज बढ़ाऊँ । सोई शक्ति मात जगाऊँ ।।
शक्ति की मैं पूजा करता । दिव्य शक्ति मैं मन में भरता ।।
अब तुम जैसे कहोगी माता । वैसा ही मैं करना चाहता ।।
वात्सल्य की नदी नहाकर । माताने कर लिया आलिंगन ।।
घर में आनन्द मंगल छाया । माँ का हृदय अति हुलसाया ।।

दोहा—कुछ दिन के पश्चात फिर, घटी अनोखी बात ।
खेल-खेल में मर गया छोटा-सा इक बाल ।।
इकलौता वह पूत था सिख परिवार के माहीं ।
डाक्टर वैद्यों ने कहा, प्राण अब इसमें नाहीं ।।
अर्थी लेकर चल पड़े, रोते-रोते लोग ।
साईंदास वहां आ गये, ऐसा बना संयोग ।।

अर्थी रोको कौन मरा है। यह कैसा कहराम मचा है ॥
हम शव की पहचान करेंगे। तब अर्थी को जाने देंगे ॥
अर्थी धरती पर रख डाली। दृष्टी आँखों में है डाली ॥
तुरत कहा यह मरा नहीं है। दुष्ट आत्मा एक यही है ॥

दोहा—ऐसा कह कर आपने कहा सती कोई लाओ।
अक्षत और जल की लुटिया, पास मेरे ले आओ ॥
सती साध्वी इक वृद्धा, दोनों चीजें लाई।
साईं दास मन्त्र पढ़े तो, एक करूपा आई ॥
केश खुले थे डायन के, भयानक उसका रूप।
जिन्दा उसने कर दिया, सिख भाई का पूत ॥
उस दुष्टा को दण्ड दे, किया वहाँ से दूर।
बालक उठ कर बैठता, मुख पर छाया नूर ॥
बालक के बदले दिया, भैंसा इक मरवाय।
साईं दास की कीर्ती, दिन-दिन बढ़ती जाय ॥

आगे का अब हाल सुनाऊँ। जीवन अपना सफल बनाऊँ ॥
साईं दास की हो गई शादी। सुख से रहने लगे सतवादी ॥
पूजा-पाठ कभी न छोड़ा। मन ईश्वर से अपना जोड़ा ॥
जहां कहीं कोई भीड़ पड़ी थी। साईं दास ने तुरत हरी थी ॥

दोहा—एक साल की बात है, हाहाकार मची।
वर्षा बिलकुल न हुई, सूख गई धरती ॥

लोगों ने मिल किया विचार। वृष्टि यज्ञ से हो उद्धार ॥
दूर - दूर से पण्डित आए। वेद मन्त्र सब मिलकर गाए ॥
वर्षा फिर भी न आई है। परजा सब घबराई है ॥
चार दिनों तक यज्ञ चला है। फल इसका कुछ नहीं मिला है॥
साईं दासजी सुन पाते हैं। यज्ञशाला में आ जाते हैं ॥
मन्त्र बोल कर आग जलाएँ। योग का बल अपना दिखलाएँ ॥

दोहा—न जाने किस ओर से, बादल घिर-घिर आए।
जोरों से वर्षा हुई, नर-नारी हर्षाए ॥
धन्य-धन्य सब ने कहा, बड़ा किया सत्कार।
साईं दास करते रहे, शुभ कारज हर बार ॥

इनकी अब सन्तान बताऊँ। दो पुत्रों के नाम सुनाऊँ ॥
सुखदयाल था नाम एक का। और कन्हैयालाल था दूजा ॥

दोहा—कन्हैयालाल के घर, हुए पण्डित गण्डाराम।
विष्णुदास के शिष्य हो, सीखा ज्योतिष ज्ञान ॥
अमृतसर रहने लगे, गण्डाराम विद्वान्।
उनके घर जन्मे प्रभु, रामलाल भगवान् ॥

मनुष्य की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि—

शक्तिपात एवं कुण्डलिनी जागरण

❀ ब्रह्मचारी श्री सूरजप्रकाश

मानव जीवन का उद्देश्य "आत्म-साक्षात्कार" या ईश्वर प्राप्ति है। मनुष्य इस अमूल्य वस्तु को प्रायः भूल गया है, सहज मानवता को भी छोड़ता जा रहा है। आज का मानव मानो वह अकेला ही सुख भोगता हुआ जीवित रहेगा। इसी कुविचार के परिणाम से आज जगत में चारों ओर सङ्घर्ष, द्वेष, वैर, हिंसा, विध्वंस, विनाश, उग्रवाद इत्यादि घोर अन्याय की उधेड़-बुन में व्यस्त एवं दुःखी है, सभी कुपथ पर चल रहे हैं। यदि कोई परमार्थ में होने का दम्भ करते हैं तो वे भी तामसी उपासनाओं, सिद्धियों में अन्धे होकर पतन के मार्ग पर चल रहे हैं।

इस दशा स्थिति में कुछ व्यक्ति ऐसे भी हैं, जो मानव जीवन की वास्तविक सफलता के लिए इच्छा रखते हैं।

सही अर्थों में वास्तविक जीवन दर्शनों पर आधारित है। दर्शनों में भी 'योग-दर्शन' का व्यक्ताव्यक्त रूप से विशेष सहयोग है। योग विषय इतना अधिक है कि उसका एकांश भी कई ग्रन्थों में प्रकाशित नहीं किया जा सकता तथापि श्री सद्गुरुदेवजी की कृपानुकम्पा एवं आज्ञा से योग के इस परमोपयोगी अतिगूढ़ रहस्य पर प्रत्यक्षतः संकेत रूप में प्रकाश डालने की बाल चेष्टा करूंगा। जो योगी इस साधना को सम्पन्न कर लेता है, उसके लिए जीवन में अन्य साधना बाकी नहीं रहती।

इसकी साधन क्रियायें थोड़ी कठिन अवश्य हैं, पर असम्भव नहीं। पुस्तकों के माध्यम से यह कला नहीं सीखी जा सकती, इसके लिए तो योग्य गुरु के चरणों में बैठना होगा। यह साधना अपने अन्दर षट्चक्रों को जागृत करने से सम्बन्ध रखती है।

गुरु-चरणों में बैठकर उनसे धारणा, ध्यान और समाधि की स्थिति सीखनी होगी, हमारे शरीर में कौन-कौनसे चक्र कहाँ-कहाँ पर स्थित हैं? किस प्रकार इन चक्रों—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञाचक्र के बारे में श्री गुरु-मुख से जानकारी प्राप्त करें। श्री गुरुमुख से प्राप्त विद्या की उपासना से ही सिद्धि का अधिकारी बनाया जा सकता है, क्योंकि शिवजी का वचन है—

पुस्तके लिखिता विद्या,
नैव सिद्धिप्रदा नृणाम्।
गुरुं विनापि शास्त्रेऽस्मि-
न्नाधिकारः कथंचन॥

अर्थात् पुस्तक में लिखी विद्या मनुष्यों को सिद्धि नहीं देती। शास्त्रों में बिना गुरु के उपदेश के किसी प्रकार के कार्य का अधिकार नहीं है।

अतः जब उपासना की इच्छा जागृत हो, तब श्री सद्गुरु से विधिवत् योग-दीक्षा लेकर साधना करनी चाहिए। इस कार्य में मुख्य

श्रद्धा और भावना है। श्री गुरुदेवजी के चरणों में विशेष श्रद्धा होनी चाहिए, क्योंकि वचन है—

मन्त्रे तीर्थे द्विजे देवे,
दैवेसे भेषजे गुरौ।
यादृशी भावना यस्य,
सिद्धिर्भवति तादृशी ॥

अर्थात् मन्त्र, तीर्थ, ब्राह्मण, देवता, ज्योतिषी, औषधि तथा गुरुदेव में जिसकी जैसी भावना होती है, उसे वैसी ही सिद्धि प्राप्त होती है।

इस प्रकार ज्ञान प्राप्त कर अपने प्रयत्नों से ही उन चक्रों को जागृत करें। इस प्रकार कुण्डलिनी जागृत कर जीवनके अनेक संतापों से मुक्ति पाकर आनन्दमें जीवन व्यतीत करें।

इस समय बहुत ही कम संख्या में ऐसे योग्य योगी महापुरुष एवं सन्त होंगे, जिनकी कुण्डलिनी जागृत हो और जिनकी इतनी हिम्मत हो कि वे अपने शिष्य या साधक की कुण्डलिनी जागृत कर सकें।

पूर्ण शक्ति का मूल आधार चेतना केन्द्र-नाभि है और नाभि के अन्दर की ओर मूलाधार चक्र है। गुरुदेवजी की निगरानी में विशेष तरीके से शोधन क्रियाएँ नेति-धौति बस्ति आदि के साथ-साथ प्राणायाम कर मूलाधार चक्र जागृत कर साधक नये जीवन का अनुभव करता है। अद्‌भुत चमत्कार आनंद का अनुभव होने लगता है। इस प्रकार कुछ और विशेष क्रियाओं द्वारा आगे अन्य स्वाधिष्ठान आदि चक्रों को जागृत करता हुआ शिष्य सहस्रार की ओर बढ़ता है। इसी सिद्ध क्रिया को कुण्डलिनी जागरण कहते हैं।

गुरु साहचर्य एवं शक्तिपात—

संसार की अन्य साधनाएँ तो गुरु-मुख से शास्त्र पढ़कर अपने-अपने स्थान पर सम्पन्न की जा सकती हैं, परन्तु कुण्डलिनी जागरण साधना तो गुरुदेव के चरणोंमें बैठकर सीखने से ही प्राप्त होती है।

गुरुदेव अपनी दिव्य शक्ति का संचार कर चक्रों में क्रिया उत्पन्न कर शिष्य को सिद्ध बनाते हैं। सभी सिद्धयोगियों ने इन क्रियाओं को बड़ी सावधानी एवं कठिनाई से सीखा है। सही गुरु का मिलना अत्यधिक कठिन है और गुरु मिल भी जाएँ तो भी उनसे यह परम ज्ञान प्राप्त करना और भी कठिन है। इसलिए शक्ति जागरण की साधना योगी की सर्वश्रेष्ठ साधना कही गई है।

शास्त्रों में मानव-जीवन का महत्व सर्वोपरि कहा गया है—

दुर्लभो हि मानुष्यं जन्म।

यदि जीवन पाकर भी मनुष्य पूर्णत्व को प्राप्त नहीं करता, तो उसका जीवन व्यर्थ ही चला जाता है। बहुत ही भाग्यशाली बिरले व्यक्ति इस जीवन की सार्थकता प्राप्त करने में सफल हो पाते हैं।

योग-मार्ग का प्रत्येक साधक यह जानता है कि शक्तिपात जीवन की श्रेष्ठतम उपलब्धि है। जिस साधक के भाग्य उदय होते हैं, उस पर विशेष कृपा होती है और उसे सिद्ध गुरु के द्वारा शक्तिपात सहज ही प्राप्त हो जाता है।

शक्तिपात क्या है ?

जो शिष्य श्री गुरुदेवजी की सेवा व साधना में निरन्तर सफलता पाना चाहता है तथा जिसने कुछ अनुष्ठान भी किये हों, तब गुरुदेवजी प्रसन्न होकर अत्यधिक कृपा-नुकम्पा करते हुए अपने शरीर स्थित तपो-

बल से कुछ विशेष शक्ति उस शिष्य को प्रदान कर देते हैं। जिससे वह साधक अपनी योग-साधना के क्षेत्र में पूर्ण सफलता तथा अनेक योग की सिद्धियाँ प्राप्त करने में सक्षम हो जाता है। इस प्रकार की शक्ति के रूपान्तरण की क्रिया को शक्तिपात कहते हैं। यह क्रिया इतनी सहज नहीं है, जितनी कि यहाँ लिखी या पढ़ी जा रही है।

श्री गुरुदेव अपने शिष्य को सामने बिठाकर अपने दिव्य शरीर द्वारा शक्ति को केन्द्रीभूत कर, नेत्रोंके माध्यम से, कर-कमलों के स्पर्श से अथवा शिष्य को अपने हृदय से लगाकर शिष्य के शरीर में उस विशेष साधनात्मक शक्ति को रूपान्तरित कर देते हैं। ज्योंही यह शक्तिपात होता है, त्योंही साधक को आनन्दयुक्त अद्भुत अनिर्वचनीय अनुभव तुरन्त होने लगते हैं।

थोड़े ही समय के अन्तराल में योग-साधक महात्व सिद्धि एवं सभी साधनाओं में पूर्णता और सिद्धता हस्तगत कर लेता है। इस प्रकार ऐसा योगी-योगियों में सर्वश्रेष्ठ एक पूर्ण सिद्ध बन जाता है। आगामी निबन्धों में क्रमशः शक्ति-जागरण क्रम क्या ? हठयोग की प्रक्रियाओं में कुण्डलिनी-जागरण सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण है। आयुर्वेद और ज्योतिष प्रक्रियाओं का शक्ति-जागरण में सहयोग कैसे इत्यादि विषयों पर प्रकाश डाला जायेगा।

श्री सद्गुरु चरण वन्दना

● श्री गोपाल अग्रवाल

गुरुदेव तुम्हारे चरणों की महिमा है अपरम्पार प्रभो,
तेरे चरण कमल हैं अमृत सम नतमस्तक बारम्बार प्रभो।

तेरे चरण कमल की दिव्य छटा चहुँ दिशा में चमकती रहती है,
तेरे चरण कमल की पावन रज सब कष्ट निवारण करती है,
तेरे चरणों के आगे हे प्रभुजी चन्दा, सूरज झुक जाते हैं,
ब्रह्मा, विष्णु, शंकर जिनकी स्तुति निज मुख से गाते हैं,
हम करते हैं इन चरणों में तेरे, नतमस्तक बारम्बार प्रभो।

तेरे चरण कमल के भजने से पापी जन पार उतरते हैं,
ऋषि मुनि गण सारे लोकों में गुणगान उन्हीं का करते हैं,
आकाश तुम्हारे चरणों में, पाताल तुम्हारे चरणों में,
ब्रह्माण्ड तुम्हारे चरणों में, नतमस्तक बारम्बार प्रभो।

गंगा, जमुना सारी नदियाँ तेरे चरणों में आकर मिलती हैं,
तेरे पावन चरणों का चरणामृत पाने को दुनिया तरसती है,
है सरयू तुम्हारे चरणों में, सरस्वती तुम्हारे चरणों में,
गोपाल तुम्हारे चरणों में, नतमस्तक बारम्बार प्रभो,
गुरुदेव तुम्हारे चरणों की, महिमा है अपरम्पार प्रभो।

अज्ञान नाशक-गुरुज्ञान

अ. श्री कमरुद्दीन

मानव सब कुछ प्राप्त करके भी कहता है कि उसे कुछ और चाहिए। सब कुछ पा लेने पर भी कुछ पाने की इच्छा उसमें शेष रहती है। इससे मालूम होता है कि सब कुछ से परे कुछ और भी है। परवाना जब तक अपनी मंज़िले-मकसूद नहीं पहुँच जाता, तब तक उसे चैन या शान्ति नहीं आती। अपनी शान्ति प्राप्त करने के लिए अपनी नन्हीं देह की दीवार को भी वह रुकावट समझकर मिटानेके लिए बाध्य हो जाता है। दीपक को जलता हुआ देखते ही उसके अन्दर एक शमा जो जल उठी है, वही उसको अपनी ओर खींचकर लाती है। वह शमा जब तक उसको जला नहीं देगी, वह गुरु से प्राप्त हुई आत्म-ज्योति की झलक, जब तक शिष्य की मलिन देहाकृति को खत्म नहीं कर देगी, तब तक परवाना रूपी शिष्य को शाश्वत शान्ति प्राप्त नहीं होगी। यह एक अजीब नाता है जो उसने पैदा कर लिया है।

जब हमारे पिता-पितामह का जन्म भी नहीं हुआ था, संसार में स्वर्ण तब भी इसी तरह ही था और आज भी स्वर्ण में लेश-मात्र भी कमी नहीं है। यदि दस लाख रुपये के आभूषण बनकर टूट जाएँ, तब भी उसमें कुछ अन्तर नहीं आयेगा। दस हजार आदमी काल-कवलित हो जाएँ तो भी स्वर्ण में तनिक भी कमी या हानि नहीं होगी। ये सांसारिक पदार्थ ज्यों के त्यों बने रहेंगे. इनसे ताल्लुक (सम्बन्ध) पैदा करके हम मनुष्य ही दुःखी-सुखी होते हैं।

यह ताल्लुक का एक हजाब (पर्दा) सा होता है। मानव चाहे इन चीजों के लिए खुद-कशी (आत्म-हत्या) भी करले, लेकिन इन पदार्थों को तो कुछ मालूम नहीं। चाहे मनुष्य संसार छोड़कर चला जावे, लेकिन यह माया तो पीछे नहीं चलेगी। यह तो अपनी स्वाभाविकता में मजबूर है। माया जब चाहे मानव का साथ छोड़ सकती है, क्योंकि हमारे हाथ माया के हाथ में हैं, माया हमारे हाथों में नहीं।

इस परिस्थिति में ईश्वर को देखो! अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिए परवाने को उसके हृदय में डाली हुई शमा उसे बाहर की जली हुई शमा की ओर खींचकर ले जा रही है। परवाना अपनी देह को अपने प्रियतम के मिलन में रुकावट समझकर ठोकरें मार-मार कर समाप्त कर रहा है। एक ही बात हम अपने बुजुर्गों से सुनते आ रहे हैं कि जीवन एक ललकार है, जिसका मुकाबला अवश्य करना है। इसके लिए बुजुर्गों ने यम-नियम रखे हैं।

त्यागने योग्य वस्तु को त्यागना संयम है। उसके बदले में नियम बनाना नियम है, जैसे कि भोजन कम खायेंगे, जिससे कि हम प्रातः तीन बजे उठ सकें। ऐसा अभ्यास करने से जीवन को निश्चित रूप से साधा

जा सकता है। आनन्द का भण्डार, सरूर का खजाना मानव के अन्दर ही है, परन्तु मानव प्रमादवश तथा आलस्य के कारण भूला हुआ है। उसकी हालत ऐसी है जैसे एक राजा नशे में अपने महल के बाहर खड़ा है और उसके महल के ताले की चाबी उसकी जेब में है और वह दरवाजा खटखटा रहा है, तमाम आराम का सामान उसके महल में पड़ा है। परन्तु वह नशे में नहीं समझता, श्रुतियारूपी द्वारपाल पुकार कर कहते हैं कि 'तू बादशाह है, तत्वमसि, तत्वमसि' तत्... त्वम्... असि। परन्तु वह नशे में दरवाजा खटखटाता ही चला आ रहा है।

पर बादशाह को होश में लाये कौन? चाहे वह सारी रात खड़ा रहे, दरवाजा नहीं खुलेगा। वह नशे में डूबा हुआ ठिठुरा, जब कभी नशे का एक झोंका आता है। फिर दरवाजा खटखटाता है। लेकिन शान्ति का सामान तब तक हाथ नहीं आयेगा, जब तक कि वह खुद होश में नहीं आयेगा। श्रुतियों की आवाज ध्यान से सुनो चाबी तुम्हारे पास ही है।

शांति के लिए अपनी जेबको ही टटोलना है। ऐ मानव! तुम तो अमृत के पुत्र हो शांति स्वरूप हो, तेरे लिए दुःख शब्द का प्रयोग करना ही पाप है। मृत्यु, जिससे तुम डरते हो, वह तो यमराज की धमकी है। उसके पास भी गम का कोई इलाज नहीं, अगर होता तो फिर इस जन्म में हम क्यों आते?

मौत से भी इलाजे गम न हुआ,
मौत के बाद फिर हयात आयी।

मूल से जब तक अज्ञान का नाश नहीं होता, तब तक शान्ति नहीं हो सकती। अज्ञान का नाश ज्ञानके बिना नहीं हो सकता और ज्ञान गुरु के बिना नहीं हो सकता—

जिसका गृह तिन दिया ताला,
कुञ्जी गुरु सौंपाई।

चाबी तो तेरे घर और ताले की है, तुझे सिर्फ याद करना है कि वह कहाँ है? लेकिन तुम संसार के नुमाइश में इतने भूल गये हो कि मालूम नहीं कि वह चाबी कहाँ रखी है? चाबी तुमने गुरु को सौंप दी है। गुरु से आँखें मिल जाँय तो तेरा उद्धार निश्चित है। यह जगत की आसक्ति तथा पदार्थों की चितवन जब तक गुरु-ज्ञान के प्रकाश से टूट नहीं जाती, तब तक ही दुःख ही दुःख रहेगा, क्योंकि तुम अकेले में इतनी शक्ति ही नहीं कि तुम इसे बाहर निकाल सको। संसार के तीनों प्रकार (आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक) दुःखों का मूल तो अज्ञान ही है और इस अज्ञान के मल को काटने वाला एक गुरु-ज्ञान ही है। जब साधक गुरु-मन्त्र का जाप करता है तथा गुरु-मूर्ति एवं इष्टदेव का ध्यान करता है तो गुरु-ध्यान अपना काम करना शुरू कर देता है। जब श्रद्धेय गुरुदेव हृदय में विराजमान हो जाते हैं तो शिष्य के जन्म-मरण का बड़ा रोग कट जाता है। जिस प्राणी को गुरु तथा गुरु-मन्त्र का आश्रय नहीं है, उसके लिए तो संसार में केवल दुःख ही दुःख तथा बीमारी ही बीमारी है। जिस प्रकार दवाई अपनी बीमारी की जगह ढूँढ लेती है। उसी प्रकार गुरु-मन्त्र भी अज्ञानता के दुःख-दर्द की जगह ढूँढकर वहाँ हमेशा के लिए ज्ञानरूपी प्रकाश पैदा करके साधक को आनन्दित कर देता है।

मेरी विशेष अभिलाषा है कि हमारे सभी गुरु-भाई अपने हृदय-मन्दिर में श्रद्धेय श्री गुरुदेवजी को स्थित करके जीवन का वास्तविक अर्थ को समझें और हर प्रकार से आनन्दित हों।

पापों के नाश का उपाय

● वैद्य रामधन शर्मा शास्त्री

शास्त्रों में ऐसा लिखा है कि चेष्टा करने पर भी पाप-वृत्ति नहीं छूटती। बार-बार पाप का भयानक फल भोगने पर भी वृत्ति न मालूम क्यों पाप की ओर चली जाती है। जिस समय पाप वृत्ति होती है, मन काम क्रोधादि के वश में होता है। उस समय मानो कोई बात रहती ही नहीं, इसका क्या कारण है और इस पाप-वृत्ति से किस प्रकार पिण्ड छूट सकता है ? यह प्रश्न तो बहुत ही अच्छा है। यद्यपि मैं स्वयं सर्वथा निष्पाप नहीं हूँ।

इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार से समझना चाहिए कि जब तक पाप की कोई स्मृति भी होती है जब तक पाप की बात सुनने-समझने में जरा भी मन खिंचता है और जब तक काम-क्रोध का कुछ भी असर चित्त पर हो जाता है, तब तक बाहर से कोई पाप कतई न होने पर भी मनुष्य अपने को सर्वथा निष्पाप नहीं कह सकता। अर्जुन ने भगवान से गीता में पूछा था—भगवान् ! मनुष्य चाहता है कि मैं पाप न करूँ। वह पाप से अपने को बचाने की इच्छा करता है, फिर भी उससे पाप हो ही जाते हैं। मानो कोई अन्दर बैठा हुआ जबरदस्ती उसे पाप में लगा रहा हो। बताइये कि वह अन्दर से पाप के लिए तीव्र प्रेरणा करने वाला कौन है ? भगवान ने हँसकर कहा—दूसरा कोई नहीं है, आत्म-शक्ति को भूलकर मनुष्य जो रजोगुण रूप आसक्ति से उत्पन्न कामना को मन में स्थान दे देता है, यह काम ही क्रोध बनता है और यह कभी तृप्त नहीं होता, यह महा पापी बड़ा बैरी है, जो अन्दर बैठा हुआ काम के लिए तीव्र प्रेरणा करता है। जैसे धूएँ से आग और मलसे दर्पण ढक जाता है और जैसे जेर से गर्भ ढका रहता है। वैसे-वैसे ही इस काम से ज्ञान ढका रहता है। यह सदा अतृप्त रहने वाला काम ही ज्ञानियों का शत्रु है। यही इन्द्रिय, मन, बुद्धि सबमें अपने प्रभाव का विस्तार करके सबको अपना निवास-स्थान बनाकर इन्हीं के द्वारा ज्ञान पर परदा डलवाकर जीव को मोह में डाले रखता है। इसी से सारे पाप होते हैं। (३१-३७-४०)

यह ज्ञान-विज्ञान को नाश करने वाला काम रहता है इन्द्रियों में, मन में और बुद्धि में, इन्द्रियों में होकर ही मन बुद्धि में जाता है, इसलिए सबसे पहले इन्द्रियों को वश में करना चाहिए। इन्द्रियाँ आदि काम को अपने अन्दर से निकाल देंगी तो काम जरूर मर जायेगा। परन्तु कठिनाई तो यह है कि हम लोगों ने अपनेको इतना दुर्बल मान रखा है कि मानो इन्द्रियों को विषयों से रोकना हमारे लिए कोई असम्भव व्यापार है। याद रखिये, पाप वहीं तक होंगे, इन्द्रियां वहीं तक बुरे विषयों को ग्रहण करेंगी, मन में वहीं तक कुविचारों के संकल्प-विकल्प होंगे और बुद्धि वहीं तक 'कु' के लिए अनुमति देगी, जहाँ तक आत्मा न जाग उठे। भगवान कहते हैं—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरि-
न्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो,
बुद्धेः परतस्तु सः॥
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा,
संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो,
कामरूपं दुरासदम्॥
(गीता ३/४२-४३)

इन्द्रियाँ स्थूल शरीर से श्रेष्ठ हैं, इन्द्रियों से मन श्रेष्ठ है, मन से श्रेष्ठ बुद्धि है और बुद्धि से अत्यन्त श्रेष्ठ है वह आत्मा है। इस प्रकार आत्मा को बुद्धि से परे सबका स्वामी परम शक्ति सम्पन्न और सब श्रेष्ठ मानकर बुद्धि को अपने वश में करो और बुद्धि के द्वारा मन को और मन द्वारा इन्द्रियों को वश में करके हे महाबाहो! कामरूपी दुर्जय शत्रु को मार डालो।

काम शत्रु मारा गया कि पापों की जड़ ही कट गई और यह करना आपके हाथ है। बिना आत्मा की अनुमति के पाप नहीं हो सकते। आत्मा अपने को कमजोर मानकर बुद्धि साथ छोड़ देती है। बुद्धि मन पर और मन इन्द्रियों पर निर्भर रहने लगता है। इन्द्रियाँ अन्धे घोड़े की तरह जब निरंकुश होकर विषयों की ओर दौड़ती हैं, तब मन-रूपी लगाम, बुद्धि रूपी सारथी आत्मा रूपी रथी शरीर रूपी रथ के साथ ही खिंचे चले जाते हैं और पापरूपी महान गड्ढे में पड़कर या पहाड़ से टकराकर बहुत दिनों के लिए बेकाम हो जाते हैं और पड़े-पड़े नाना प्रकार के दुःख भोगते हैं। इन सब दुःखों से छुट-कारा तभी हो सकता है जब यदि भ्रमवश अपनेको कमजोर मानकर बुद्धि, मन, इन्द्रियों के वश हुआ आत्मा इस मिथ्या पराधीनता की बेड़ी को तोड़कर इनका स्वामी बन जाय और इन्हें जरा भी कुमार्ग में न जाने दे। बलपूर्वक रोक दे, आत्मा में यह अजेय शक्ति है। आत्मा के जागृत होने पर उसकी एक हुंकार से वह काम नष्ट हो सकता है।

आप यह निश्चय समझिये कि आप सर्व शक्तिमान आत्मा हैं। आप में बड़ा बल है। संसार के किसी भी पाप-ताप की शैतानि शक्तियां आपका सामना नहीं कर सकतीं, आप अपने स्वरूप को भूले हुए हैं, इसी से अकारण दुःख पा रहे हैं। राज-राजेश्वर होते हुए भी गुलामी की जंजीरमें अपनी ही भूल में बँध रहे हैं। इस बेड़ी को तोड़ डालिये, फिर पापवृत्ति आपके मन में आयेगी ही नहीं। आत्मा में ऐसा निश्चय कीजिए। काम-क्रोध मेरे मन में नहीं रह सकते। पाप मेरे पास आते ही जल जावेंगे, मैं शुद्ध हूँ, निष्पाप हूँ। अपार शक्तिशाली हूँ, पापों की पापों के बाप काम की ताकत नहीं, जो यहाँ आसके। आप विश्वास कीजिए, यदि आपका विश्वास पक्का होगा तो आप काम-क्रोध से, पापों से छूट जायेंगे।

रोज प्रातःकाल और सायंकाल एकान्त में बैठकर ऐसा निश्चय कीजिये। मैं शरीर नहीं हूँ, मन नहीं हूँ, बुद्धि नहीं हूँ, निर्विकार शुद्ध आत्मा हूँ। मुझमें काम, क्रोध, लोभ, मोह और इनसे होने वाले पाप हैं ही नहीं। अब मैं इनको अपने समीप नहीं आने दूंगा, ये मेरे पास आ ही नहीं सकते। हो सके तो पांच बातों पर ध्यान रखिए—

१. आत्म-शक्ति से रोज आत्मा में निश्चय कीजिए काम-क्रोध मेरे नजदीक नहीं आ सकते।

गांधीजी की सत्यनिष्ठा

● विनोबा ●

बाल्य-भाव : दम्भरहित जीवन

एक बार ईसा से पूछा गया कि परमात्मा के स्थान में किनका प्रवेश होगा ? वहाँ एक टेबुल पड़ा था, जिस पर कुछ बच्चे बैठे थे। ईसा ने एक छोटे-से बच्चे को टेबुल पर खड़ा किया और कहा—'जो लोग बच्चे के समान होंगे, उन्हें परमात्मा के स्थान में प्रवेश मिलेगा।'

उपनिषद् कहती है—पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत् (बृहदा० ३, ५, १) अर्थात् 'ब्राह्मण को चाहिए कि ज्ञान को पचाकर बाल-भाव से रहे।' ज्ञान पचाकर अज्ञानी बन जाए। उपनिषद् के इस वाक्य पर 'ब्रह्मसूत्र' (३, ४, ४७, ५०) में चर्चा आयी है। कहा गया है कि बालभाव में रहना यानी क्या? कि बालवत् कामचारवादभक्षता—अर्थात् जैसे बच्चे कहीं भी कीचड़ या गन्दगी में हाथ डालते हैं, कुछ भी खा लेते हैं, कुछ भी निगल जाते हैं, क्या वैसा करें ? स्पष्ट है कि ऐसा पूछने वाला भी कोई बच्चा ही होगा। इस पर उत्तर दिया गया : अनाविष्कुर्वन्नन्वयात् (ब्रह्मसूत्र ३, ४, ५०) यानी जैसे बच्चा दम्भरहित होता है। वह वैसा है, जैसा लोगों के सामने दीखता है। उसे छिपाना मालूम नहीं। वैसा ही होना चाहिए।

वर्ड्स्वर्थ की भी ऐसी ही एक कविता है : 'हेवन लाइज़......' यानी बचपन में हम परमात्मा के नजदीक होते हैं।

मुख्य बात यह है कि बच्चों में दम्भ नहीं होता। बच्चे गुस्सा भी करते हैं। देखा गया है कि छोटे-छोटे बच्चे बहुत गुस्सा करते हैं। उसे हम 'मिसचीफ' कहते हैं। वह उनका स्वभाव ही होता है। लेकिन ऐसा बच्चा आपको नहीं मिलेगा, जो छिपाना जानता हो यानी 'झूठ' जानता हो। जब वह झूठ पहचानने लगे तो समझ लें कि उसने हमसे कुछ तालीम पा ली। माता-पिता ने उसे अपनी कुछ 'अक्ल' दे दी।

गांधीजी में गुण अनेक थे तो दोष भी होने ही चाहिए। मानवमात्र में गुण और दोष दोनों ही होते हैं। लेकिन उनका सबसे बड़ा गुण यह था कि वे छिपाना नहीं जानते थे। उन्होंने लिखा भी है कि 'सत्य की ढाल

---

२. रोज ऐसा विचार कीजिए आप सर्व शक्तिमान सर्वेश्वर परमात्मा मेरे साथ हैं, उनकी उपस्थिति में पाप-ताप मेरे पास आ ही नहीं सकते।

३. भगवान के नामका जप कीजिए, भगवान का नाम मुख से उच्चारण करने से सब पाप-ताप नष्ट हो गये, अब कोई पाप नहीं है।

४. नित्य स्वाध्याय—आध्यात्मिक ग्रन्थों का भगवत् नाम की चर्चा नित्य कीजिये।

५. किसी इन्द्रिय से मन से या बुद्धि से किसी प्रकार से भी कुसंग जरा भी न कीजिए, इन्द्रिय-मन-बुद्धिको अवकाश न दीजिए।

—३—

में मैं पचासों खतरों से बच गया।' सत्य को वे ढाल मानते थे।

अहिंसा सत्य : ढाल कौन, शस्त्र कौन ?

एक बार इसी पर बड़ी मनोरंजक चर्चा चली। मैंने किसी जगह एक मौके पर कहा कि 'सत्याग्रही का शस्त्र है सत्य और अहिंसा है ढाल' तो मेरे सामने बापू का एक वाक्य रखा गया, जिसमें शायद यह था (अगर मुझे ठीक-ठीक याद हो) : अहिंसा है शस्त्र और सत्य है ढाल' मैंने सुन लिया और कह दिया कि 'भाई, जो भी उनकी ढाल हो और जो भी मैंने ढाल बतायी हो। लेकिन मेरी अपनी ढाल है समन्वय, मेल-जोल करना।' मैं दोनों विचारों को कबूल कर लेता हूँ। सोचें तो सत्य को शस्त्र कह सकते हैं या ढाल भी। इसी तरह अहिंसा को भी शस्त्र और ढाल दोनों कह सकते हैं। फैसला करना कठिन है। लेकिन सत्य के साथ अहिंसा आती ही है। गांधीजी ने एक बार कहा कि 'अहिंसा तो मुझे पीछे मिली, सत्य की खोज करते हुए। ध्यान में आया कि सत्य की खोज अहिंसा द्वारा ही हो सकती है, हिंसा द्वारा नहीं।' आध्यात्मिक क्षेत्र में यह बहुत बड़ी खोज मानी जायगी कि सत्य की खोजके लिए अहिंसा रास्ता है।

एक तो सत्य वह है, जिसकी व्याख्या करने की कतई जरूरत नहीं, जिसे हम और आप सभी जानते हैं। एक परम सत्य है, जिसकी खोज में सब लगे हुए हैं और अभी तक वह पूरी नहीं हुई है, खोज जारी है। मानव जितना उसके निकट जा रहा है वह उतना दूर-दूर भाग रहा है। आज हम सत्य की कल्पना करते हैं तो ऐसा भास होता है कि उसके निकट पहुँच रहे हैं। उतने में दृष्टि विशाल हो जाती है और सत्यका और गहरा अर्थ ध्यान में आता है, फिर पहले से कुछ बढ़ ही जाता है।

सत्य की खोज : पर्वतारोहण—

हमें एक मिसाल याद आती है। बचपन में हम बहुत बार पहाड़ों पर घूमे हैं, वहाँ पर्वत होते हैं पर्वत! मामूली टीला या मामूली पहाड़ नहीं'पर्व-पर्व' जिस पर चढ़ना होता है,उसका नाम है 'पर्वत'। वहाँ पर्वत के नीचे खड़े रहते हैं तो लगता है कि इतना टीला चढ़ जायें तो पर्वत समाप्त है पर उतना चढ़ गये तो एकदम दूसरा एक टीला सामने खड़ा हो जाता है और ध्यानमें आता है कि इस पर और चढ़ना पड़ेगा। उस पर चढ़ गये तो एक और खड़ा मिलता है। उसके पीछे पुनः और एक है ही, इसी का नाम है पर्वत। हमारा यह जीवन भी पर्वत के समान है; आरोहण यानी उत्तरोत्तर चढ़ते जाना है। यहाँ कुछ प्राप्ति हो रही है, ऐसा लगता है तो उतने में ध्यान में आता है कि यह पूरी प्राप्ति नहीं, कन-का-किंकी है। साध्य तो और आगे है। वेद में मन्त्र आया है—'सानोः सानुम् आरोहन्'। एक शिखर से दूसरे शिखर पर चढ़ता चला जाता है। इस प्रकार एक सत्य का थोड़ा-थोड़ा आकलन होता है, उतने में ध्यान में आता है कि सत्य की गहराई में पहुँचे नहीं हैं, सत्य और आगे है; यह है सत्य की खोज।

चरम सत्य ही आधार—

लेकिन एक सत्य ऐसा है, जो हर बच्चा जानता है और वही हम और आप सबका आधार है। जिस सत्य की खोज करनी है, वह तो जीवन-भर का प्रयास है, लेकिन जिसके आधार पर वह खोज करनी है, वह मूल सत्य आपको, हम सबको, बच्चे तक को प्राप्त है। एक बार चर्चा चल रही थी कि सत्य की व्याख्या करो। मैंने मजाक में कहा—

'सत्य की व्याख्या आप चाहते हैं तो आपके लिए कर देता हूँ, सत्य यानी मिश्री।' वह बोला—'दरअसल मजाक कर रहे हैं।' मैंने कहा—'अगर यह व्याख्या नहीं जँची तो समझ लीजिये कि सत्य यानी खजूर।' मिश्री मीठी थी, फिर भी उसे नहीं जँची। मैंने सोचा कि उसे मिश्री नहीं, खजूर अच्छा लगता हो, तो कह दिया सत्य यानी खजूर। पर वह कहने लगा—'यह भी ठीक नहीं, मजाक है।' मैंने कहा—'बताओ, तब क्या कहूँ, तो मजाक न समझोगे? मतलब यह कि सत्य तुम जानते ही हो, फिर व्याख्या क्यों पूछते हो?'

सारांश, व्याख्या सही है या नहीं, यह जिस कसौटी पर कसा जाता है, वही सत्य है। कोई सत्य की व्याख्या कर ही नहीं सकता। हर चीजकी व्याख्या जिसके आधार पर की जाती है, वह एक बुनियादी चीज है और वह अव्याख्येय (अनडिफाइण्ड) रहेगी। उसकी व्याख्या नहीं होगी पर वह हम सबको मालूम है।

हर बच्चों को झूठ तब सिखाते हैं, जब पहली बार कहते हैं कि 'बच्चो, सच बोलो।' उनके सामने सवाल खड़ा हो जाता है कि सत्य नहीं तो और क्या बोलने को होता है? वह पहचानता ही नहीं कि सत्य के अलावा और कोई चीज बोलने की होती है। 'सत्य बोलो' इसी वाक्य से हम उसे असत्यमें प्रवेश कराते हैं, यह अजीब-सी बात है। उसकी सत्य पर कितनी श्रद्धा होती है, माँ बच्चे से कहती है—'वह देखो चाँद!' तो वह मान लेता है कि हां, चाँद है। उसके मन में शंका होती तो दस-पांच लोगों से पूछ लेता कि 'भाई, क्या यही चाँद है? आपकी क्या राय है?' पर उसने ऐसा नहीं किया। जहाँ मां ने बता दिया कि 'यह चांद है' तो एकदम मान लिया कि हाँ, चांद ही है, क्योंकि उसे मालूम ही नहीं कि दुनिया में कोई झूठ बोल सकता है। लोग जो बोलते हैं, सो सत्य ही बोलते हैं।

जेलर की एक विशेष मनोवृत्ति (मेण्टालिटी) होती है। वह मानता है कि हर कोई झूठ बोलता है। अगर कोई झूठ नहीं बोलता तो उससे कहा जाता है, 'सबूत पेश करो।' उसने सबूत पेश किया तो मान लिया जाता है कि 'हां, यह झूठ नहीं बोला।' पर बगैर सबूत के हरएक को झूठा ही मानना चाहिए; जेलर पुलिस वगैरह को यही तालीम मिली होती है कि हरएक को बदमाश मानो। सबूत के बाद ही किसीको सज्जन मानो; पर बच्चे की मनःस्थिति इससे बिलकुल उल्टी है। जो कहा जायगा, एकदम सही मान लेगा, आगे वह झूठ साबित हुआ तो अलग बात है लेकिन प्रथम श्रवण में वह उसे सत्य ही मानेगा, क्योंकि उसका चित्त बिलकुल सरल है, टेढ़ा नहीं है।

आप देखेंगे कि मनुष्य की आंख भगवान ने कैसी बनाई? वह चाहे किसी कोण (एंगल) से देखे, सीधा ही देखती है, आंख कभी टेढ़ा नहीं देख सकती। सूर्यकी किरणें भी बिलकुल सीधी आती हैं, वे कभी टेढ़ी-मेढ़ी नहीं आ सकतीं। पानी उछल-कूदकर टेढ़ा-मेढ़ा जा सकता है, क्योंकि जमीन टेढ़ी-मेढ़ी है, लेकिन सूर्य की किरणें तो आसमान से आती हैं तो बिलकुल सीधी ही आयेंगी, तो जैसे सूर्य की किरणें या जैसे आँख की दृष्टि, वैसे ही परमात्मा ने मानव का चित्त भी सीधा निर्माण किया है बचपन में वह सीधा ही जाता है, इसीलिए ज्ञान भी पाता है। यदि वह पग-पग पर शंका करता जाता, तो ज्ञान ही न पाता।

वे सारे जेलर वगैरह तीस-तीस, चालीस-चालीस साल काम करते रहते हैं, लेकिन उनका ज्ञान जरा भी नहीं बढ़ता। उनका दायरा शंका का है, उस दायरे को छोड़कर वे सोचें तब न ज्ञान बढ़े?

बापू की सत्य-सिद्धि यत्न-सिद्धि, सहज नहीं

गांधीजी के बारे में हम सोचते हैं तो दीखता है कि उन्होंने अनेक प्रयत्न किये। धीरे-धीरे उनकी ताकत बढ़ती गई, कोई जन्म-सिद्ध, अलौकिक चमत्कार नहीं देखा जाता, जैसे कपिल महामुनि में देखा गया। वे बचपन से ही एकदम ज्ञान बोलने लगे। भगवान कहते हैं—'सिद्धानां कपिलो मुनिः' सिद्धों में मैं कपिल हूँ, सिद्ध यानी जन्मसिद्ध। कपिल मुनि को बचपन के ही ज्ञान था, माता उनको दूध पिलाने लगी, दूध की जरूरत तो बच्चों को होती है। कपिल महामुनि स्तनन्धय, बालक तो थे ही, लेकिन मां के पास गये तो उन्होंने उसका दूध न पीकर उसे तत्वज्ञान का पाठ ही पढ़ाना शुरू कर दिया। ऐसी एक अलौकिक स्वभावज सिद्धि थी उनमें, या शङ्कराचार्य को ले लें। लगभग आठ साल की उम्र में वेदाभ्यास पूरा करके वे घर से निकल पड़े। पर भगवान की कृपा से महात्मा गाँधी ऐसी श्रेणी में नहीं थे, यदि होते तो हमारे काम न आते। फिर तो हम उनके सामने हाथ जोड़ते और कहते : 'आप अपने स्थान में हैं और हम अपने स्थान में, आपका अनुकरण हम नहीं कर सकते। आप महान् हैं, सूर्यनारायण हैं, लेकिन हमें तो पृथ्वी पर ही चलना है : हमें और हरएक को मानना होगा कि गांधी जन्मतः एक सामान्य मनुष्य थे, इसीलिए वे मेहनत कर विशाल बने। उनका सारा पराक्रम इसी जन्म का है। पूर्व-जन्म की सिद्धि लेकर आते तो वे हमारे लिए आदरणीय होते, पर अनुकरणीय नहीं। फिर भी उनमें कोई सिद्धि थी तो वह थी सत्य पर निष्ठा!'

मुहम्मद का 'इंशा अल्लाह!'

इस समय मुझे याद आ रहे हैं मुहम्मद पैगम्बर। पैगम्बर भी एक सामान्य मनुष्य थे, मामूली व्यापार करते थे, जैसे दुनियाभर में लोग करते हैं। फिर भी उनमें एक बात थी कि उनका वचन कभी भंग न होता था, शब्द कभी टूटता न था। एक बार उन्होंने किसी को कोई वचन दिया और वह टूट गया; उसका पालन नहीं किया गया, तो किसी ने उनसे पूछा—'आप तो अल-अमीन हैं और आपका वचन कभी टूटा नहीं। यह कैसा मौका आया कि आपका वचन टूट गया?' वे बोले : 'याद करता हूँ।' याद कर उन्होंने कहा : 'मैंने वह वचन दिया था इंशा अल्लाह नहीं बोला।' 'इंशा अल्लाह' का अर्थ होता है 'अगर अल्लाह ने चाहा!' मुहम्मद साहब के कहने का मतलब यह था कि मैंने जो वचन दिया, उसमें अहंकार था, कारण परमात्मा का स्मरण मैंने नहीं किया था, इसीलिए वह पूरा न हो सका। उन्होंने कहा : 'भाइयो! मैं 'अल अमीन' नहीं, वह तो परमात्मा है। परमात्मा का जितना स्पर्श मुझे होता है, उतना ही गुण मुझमें आता है। वास्तव में ये सारे गुण परमात्मा के हैं', लेकिन अब तो मुसलमानों में रिवाज ही पड़ गया कि 'इंशा अल्लाह' कह देंगे और छूट जायेंगे। इंशा अल्लाह कहकर अपने वचन पर कायम रहने की बात अब नहीं रही। वचन से छूट जाने का मौका देना तो बोल दिया जाय 'इंशा अल्लाह।' क्यों नहीं मिलेंगे? 'नहीं, परसों आयेंगे इंशा अल्लाह।' अगर नहीं आये तो

इंशा अल्लाह !' इस तरह आज हम अल्लाह की आड़ में छूट जाते हैं।

जैसा बोलो, वैसा ही करो—

यह कहानी मैंने इसलिए सुनायी कि मुहम्मद पैगम्बर में अगर कोई मुख्य गुण था तो वह उनकी सत्य-निष्ठा ही था। मनुष्यों में भिन्न-भिन्न गुण हुआ करते हैं। कोई केवल करुणापरायण होता है, कोई सत्य-प्रधान तो कोई पराक्रम-प्रधान। महात्माजी थे सत्य-प्रधान, उसी का आधार लेकर वे धीरे-धीरे सेवा करते आगे बढ़ते गये। यहाँ तक कि किसी मीटिंग में बोलना उनके लिए मुश्किल हो जाता था, मीटिंगमें बोलना हो तो कांपते थे। कहते : क्या बोलना है, क्या कहा जाय?' फिर धीरे-धीरे बोलते।

जानकीदेवी को आप जानते ही होंगे—जमनालाल बजाज की पत्नी ! मराठी, गुजराती, हिन्दी, मारवाड़ी, उर्दू सब बोल लेती हैं। उनको किसी भाषा में बोलने में हिचक ही नहीं होती, फिर व्याकरण का डर तो बिलकुल ही नहीं रखा है उन्होंने। जिनके पीछे व्याकरण का डर होता है, वे तो बेचारे डरते हैं। उनके व्याख्यान में ग्रामीणों को बड़ा मजा आता है। व्याकरण का सवाल ही नहीं, छोटे-छोटे वाक्य और वक्तृत्व-सम्पन्न बोलती हैं। इसके विपरीत जमनालालजी रुक-रुककर बोलते, वे वक्ता नहीं थे। मैंने एक बार उनसे कहा : 'आप तो कैसा सुन्दर व्याख्यान देती हैं, लेकिन जमनालालजी दुनिया भर का काम करते हैं, पर बोलना उनके लिए मुश्किल होता है।' बोलीं, इसका कारण है ! मैंने पूछा : क्या ? बोलीं : 'उन्हें हमेशा फिक्र रहती है कि जैसा बोलता हूँ, वैसा करना पड़ेगा। वह सोच-सोचकर वे बोलते हैं, लेकिन हमें तो यह सोचनेसे मतलब ही नहीं, तब रुकावट किसलिए ? इसीलिए हमें वक्तृत्व सध पाता है।'

गांधीजी का भी ऐसा ही था। उन्हें जनता के बीच बोलना मुश्किल होता था। धीरे-धीरे अभ्यास करते-करते वह सध गया। इसका यही कारण था कि मुँह से ऐसा शब्द न निकले, जो गलत हो, सोचा हुआ न हो, सत्य की कसौटी पर कम उतरे, इसकी चिंता उन्हें रहती थी। इसीलिए वे पचासों संकटों से बचे, यह उन्होंने स्वयं लिख रखा है।

गांधी की मानव कायम रखें—

आज उनके स्मरण हम इकट्ठे हुए हैं तो हमें समझना चाहिए कि उनका चरित्र अनुकरणीय है। यदि हमने उनको अवतार आदि बना लिया, तो मामला खतम हो जायगा। मानव रूप में परमात्मा आ गये, ऐसा मानकर उपासना-भक्ति करना मनुष्य के लिए लाभदायी होता है। इसलिए मानवों को अवतार की आवश्यकता होती है, यह सत्य है। फिर भी राम-अवतार है, कृष्ण-अवतार है तो बस हो गया ! अब इससे अधिक अवतारों की आवश्यकता नहीं। गांधीजी को अवतार बना रखा तो उनका हमें कुछ भी उपयोग नहीं होगा, सिवाय इसके कि हम उनका नाम वगैरह लें। नाम लेने के लिए आधार चाहिए, तो राम-कृष्ण हैं ही, इनसे अधिक तीसरे की हमें कोई आवश्यकता नहीं।

(वैराग्य—पृष्ठ ८ का शेष)

भोजन पर पानी डलवाकर नष्ट करा दिया और किसी को चखने तक न दिया। फिर बादशाह कहने लगा कि क्या आप मेरे सिपाहियों को जीभ के स्वाद में डालकर नष्ट करना चाहते हैं ? यदि इन लोगों को ऐसी वस्तुओं का रस पड़ गया तो फिर इनकी दशा भी आपके समान आराम-तलबी की हो जायगी और फिर ये लोग युद्ध के योग्य न रहेंगे। इसलिए आप तो मेरे सिपाहियों को चावल, शुष्क आटा आदि सब सामान कच्चा ही दे दें, ये आप ही भून-भानकर पका कर खा लेंगे।

कहने का भाव यह है कि जब एक देश को जीतने के लिए इन्द्रिय-दमन और भौतिक रसों के त्याग की आवश्यकता होती है, तो क्या इस मन को जीतने के लिए (जिसमें सम्पूर्ण संसार के संस्कार भरे पड़े हों) इन्द्रिय दमन की ओर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं, अपितु सत्य तो यह है कि इसमें उससे भी कई गुना ध्यान देने और इन्द्रिय-दमन की आवश्यकता है।

नर संसारी लगन में,
दुःख सुख सहे करोड़।
नारायण हरि लगन में,
जो कुछ सहे सो थोड़॥

आम संसारी लोग सांसारिक कामों की लगन के कारण करोड़ों प्रकार के कष्टों का सामना करते हैं। यद्यपि इन कामों का परिणाम कुछ भी लाभदायक नहीं होता। इस लोक में भी चिन्ता, दुःख, कष्ट आदि के सिवाय कुछ हाथ नहीं आता है और परलोक में भी लज्जित होना पड़ता है। इसलिये गुरुदेव कथन करते हैं कि यदि भगवान की भक्ति और नाम की लगन में कितने ही कष्ट सहने पड़ें तो कुछ परवाह मत करो, क्योंकि परमेश्वर की भक्ति तो लोक और परलोक दोनोंमें जीव का साथ निभाने वाली वस्तु है।

—० आवश्यक निवेदन ०—

'सिद्धयोग' के सभी गुरु भाई-बहिनों से निवेदन है कि वे जब भी सिद्धयोग सम्बन्धी पत्र-व्यवहार कार्यालय से करें, तो अपना ग्राहक नम्बर अवश्य लिख दिया करें। बिना ग्राहक नम्बर के आपके पत्र का उत्तर तुरन्त देने में असुविधा रहती है। अतः इस असुविधा को दूर करने के लिए अपना ग्राहक नम्बर लिखना आवश्यक है।

—व्यवस्थापक

SIDDHAYOGA – Regd. No. L. AG. 008, JUNE, 1990

प्रेषक कार्यालय :—

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई (एत्मादपुर)
आगरा।

PRINTED MATTER
Book-Post

श्री 1925
सुरेन्द्र कुमार त्रिपाठी
श्री एम. डी. दण्डोतिया सरकारी वकील
का मकान गणेशपुरा मुरैना म. प्र.

सृष्टि रचना का क्रम

जिस प्रकार मकड़ी जाला बाहर निकालती है और फिर उसे अपने अन्दर समेट लेती है, जैसे पृथ्वी से वनस्पति उगती है, जैसे सजीव शरीरों पर बाल उगते हैं, वैसे ही यह सकल ब्रह्माण्ड उस अविनाशी से निकलता है।

जब वह परमात्मा सृष्टि का चिन्तन करता है, तो यह जगत भौतिक आकार में प्रकट हो जाता है, और वहाँ से अन्न, प्राण, मन, [illegible], [illegible]पति, पुण्य, कर्म और अमरत्व विकसित होते हैं। —मुण्डकोपनिषद्

मुद्रक—देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य' कर्मयोग प्रिंटिंग प्रेस, बसई कलाँ ताजगंज, आगरा । Ph. 65426